पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ४३

अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा

प्रो० सागरमल जैन

सच्चं लोगम्मि सारभूयं

H
294.872
J199A

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ४३

अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा

प्रो० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-२२१००५

प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड
वाराणसी-५

संस्करण : प्रथम १९८७

मूल्य : रु० ~~१५.००~~

ARHAT PĀRSVA AURA UI
By Prof. Sagar Mal Jain
Price Rs. 15.00
First Edition 1987.

IIAS, Shimla
Library
H 294.872 J 199 A
00094575

मुद्रक :
डिवाइन प्रिन्टर्स
बी. १३/४४ सोनारपुरा, वाराणसी

प्रकाशकीय

जैन परम्परा में पार्श्वनाथ को २३ वां तीर्थङ्कर माना जाता है। इनका समय २४ वें और अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर से २५० वर्ष पूर्व माना जाता है। जैन परम्परा में ये दो तीर्थङ्कर ऐसे हैं, जिनकी ऐतिहासिकता निर्विवाद रूप से स्वीकार की जाती है। वर्तमान में भगवान् पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में छोटे-बड़े कई ग्रंथ लिखे गये हैं, परन्तु उनका दृष्टि कोण श्रद्धापरक ही रहा है, इनमें ऐतिहासिक तथ्यों एवं समीक्षात्मक मूल्यांकन की प्रायः उपेक्षा की गयी है। पार्श्व के सम्बन्ध में शोध परक दृष्टि से पं० दलसुखभाई मालवणिया तथा कुछ अन्य विद्वानों के लेख ही उपलब्ध हैं। प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान् लेखक डा० सागरमल जैन ने "पार्श्व और उनकी परम्परा" के सम्बन्ध में शोध परक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए निष्पक्ष रूप से प्रकाश डाला है, एतदर्थ हम उन्हें बधाई देते हैं। संस्थान के शोध सहायक डा० शिवप्रसाद, डा० अशोक कुमार सिंह ने इसके प्रूफ-रीडिंग आदि में सहयोग दिया है, जिसके लिये हम उनके भी आभारी हैं। ग्रंथ के सुन्दर ढंग से मुद्रण के लिये डिवाइन प्रिंटर्स और उसके प्रबन्धक श्री महेश कुमार को धन्यवाद देते हैं जिनके व्यक्तिगत रुचि के कारण इसका शीघ्र मुद्रण सम्भव हो सका।

भूपेन्द्रनाथ जैन
मंत्री, संचालक समिति
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

विषय-सूची

पार्श्व की ऐतिहासिकता १
जैन परम्परा में पार्श्वनाथ का स्थान ७
पार्श्व का जीवन वृत्त १०
पार्श्वनाथ के माता-पिता, वंश एवं कुल ११
पार्श्व का नामकरण १२
पार्श्व का विवाह प्रसंग १३
कमठ और नागोद्धार की घटना १४
पार्श्व का विहार क्षेत्र १६
पार्श्व के कथानक का ऐतिहासिक विकास क्रम १७
पार्श्व का अवदान २९
पार्श्व की धार्मिक और दार्शनिक मान्यतायें २१
ऋषिभाषित में वर्णित पार्श्व का धर्म और दर्शन २३
अन्य आगम ग्रंथों में वर्णित पार्श्व का धर्म और दर्शन २५
महावीर और पार्श्व की परम्परा का अन्तर २८, चातुर्याम और पंचमहाव्रत का विवाद ३०, रात्रि भोजन का निषेध ३१, संप्रतिक्रमण धर्म ३२, सामायिक और छेदोपस्थानीय चरित्र का प्रश्न ३२, अन्य अन्तर ३३, औद्देशिक ३३, राजपिण्ड ३४, मासकल्प ३४, पर्युषण ३४,
पार्श्वापत्य और पार्श्वस्थ ३६
पार्श्वापत्य श्रमण-श्रमणियाँ और गृहस्थ उपासक-उपासिकायें ३९
महावीर और पार्श्व की परम्परा के पारस्परिक सम्बन्ध ४२, पार्श्व की परम्परा ४३,
पार्श्वनाथ और बौद्ध परम्परा ४६
पार्श्वनाथ और पाइथागोरस की परम्परा ४७
पार्श्वनाथ परम्परा की पट्टावली ४७
पार्श्व सम्बन्धी साहित्य ५६
सन्दर्भ ६२

अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा

पार्श्व की ऐतिहासिकता

पार्श्व को महावीर का पूर्ववर्ती एवं जैन परम्परा का २३ वां तीर्थंकर माना जाता है। जैन धर्म के तीर्थंकरों में पार्श्व और महावीर ही ऐसे व्यक्तित्व हैं जिनकी ऐतिहासिकता निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है। सामान्यतया किसी व्यक्तित्व की ऐतिहासिकता का निश्चय करने के लिए अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्य महत्वपूर्ण होते हैं। जहाँ तक पार्श्व की ऐतिहासिकता के निर्धारण का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध में हमें अभी तक ईसा पूर्व का कोई भी अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ है और अब ऐसे साक्ष्य के उपलब्ध होने की सम्भावना भी धूमिल ही है। भारत में अभी तक पढ़े जा सके जो भी प्राचीनतम अभिलेख उपलब्ध हुए हैं, वे मौर्यकाल से अधिक प्राचीन नहीं हैं। सिन्धु घाटी की सभ्यता के अभिलेख अभी तक पढ़े नहीं जा सके हैं। मौर्यकालीन अभिलेखों में निर्ग्रन्थों का उल्लेख तो है, किन्तु पार्श्व का उल्लेख नहीं। ज्ञातव्य है कि पार्श्व और महावीर दोनों की परम्पराओं के श्रमण निर्ग्रन्थ कहे जाते थे।

परम्परागत मान्यताओं के आधार पर पार्श्व मौर्यकाल से भी लगभग ४०० वर्ष पूर्व हुए हैं, किन्तु पार्श्वनाथ के संबंध में प्राचीनतम अभिलेखीय साक्ष्य ईसा की प्रथम शती का है। मथुरा के अभिलेख क्रमांक ८३ में स्थानीय कुल के गणि उग्गहीनिय के शिष्य वाचक घोष के द्वारा अर्हत् पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा को स्थापित करने का उल्लेख है।[1] इससे यह फलित होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में पार्श्वनाथ जैन परम्परा के अर्हत् के रूप में मान्य थे और उनकी प्रतिमा बनने लगी थी। स्मरण रखना होगा कि मथुरा के अभिलेखों में तीर्थंकर शब्द का प्रयोग नहीं है, अपितु उसके स्थान पर अर्हत् शब्द का प्रयोग है, यथा अर्हत् वर्धमान, अर्हत् पार्श्व आदि। मथुरा में ईसा की प्रथम शताब्दी की उपलब्ध प्रतिमाओं में सर्वाधिक प्रतिमाएं वर्धमान

की हैं, उसके पश्चात् ऋषभ, पार्श्व और अरिष्टनेमि की प्रतिमाओं का क्रम आता है। ऐसा लगता है कि इस काल तक ये ही चार तीर्थंकर प्रमुख रूप से मान्य थे और इन्हीं के सम्बन्ध में साहित्यिक विवरण भी लिखे गये थे। कल्पसूत्र भी केवल इन्हीं चारों तीर्थंकरों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है। उस काल के साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों में अन्य तीर्थंकरों सम्बन्धी विवरणों का अभाव विचारणीय है।

पार्श्व सम्बन्धी इन विवरणों से पार्श्व की ऐतिहासिकता एवं जैन परम्परा में उनका महत्व स्पष्ट हो जाता है। पार्श्व के सम्बन्ध में ई० पू० के अभिलेखीय साक्ष्यों के अभाव से उनकी ऐतिहासिकता पर प्रश्न चिह्न नहीं लगाया जा सकता है, क्योंकि बुद्ध और महावीर के सम्बन्ध में भी एकाध अपवाद को छोड़कर ई० पू० के अभिलेखीय साक्ष्यों का अभाव है। महावीर के सम्बन्ध में एक अभिलेख उनके निर्वाण के ८४ वर्ष पश्चात् का बालडी, राजस्थान से प्राप्त है। मौर्यकालीन अशोक के अभिलेखों में केवल एक स्थान पर ही बुद्ध का नामोल्लेख हुआ है।

आज पार्श्व की ऐतिहासिकता के निर्धारण का आधार मात्र साहित्यिक साक्ष्य ही है। दुर्भाग्य से जैन परम्परा के आगमिक ग्रन्थों के अतिरिक्त हमें बौद्ध और वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी पार्श्व के नाम का स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं मिलता है। पं० कैलाशचन्द जी ने लिखा है कि पार्श्व का उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र के पूर्व हुए हैं[2] किन्तु उन्होंने उसका कोई प्रमाण नहीं दिया है। खोज करने पर हमें बौधायन धर्म सूत्र में 'पारशवः' शब्द मिला है किन्तु उसमें वर्णसंकरों के प्रसङ्ग में ही पारशवों की चर्चा है।[3] वहां पारशव का तात्पर्य भिन्न वर्णों के स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क से उत्पन्न सन्तानें हैं।

'पारशवः' शब्द का अर्थ पारसी या फारस देश के निवासियों और भारतीयों के सम्पर्क से उत्पन्न सन्तान भी किया जा सकता है। फिर भी इस सम्भावना को पूर्णतया निरस्त नहीं किया जा सकता कि पारशवों का सम्बन्ध पार्श्व के अनुयायी से रहा हो। क्योंकि वैदिक ब्राह्मण श्रमणों को और उनके अनुयायियों को हेय दृष्टि से देखते थे। श्रमणों के अनुयायियों को वर्णसंकर कहने का एक कारण यह होगा कि

श्रमण धारा वर्ण व्यवस्था के सन्दर्भ में बहुत कठोर नहीं थी। उसमें अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्ध होते होंगे, फलतः उन्हें वर्ण संकरों की श्रेणी में रखा जाता होगा। फिर भी यह एक क्लिष्ट कल्पना ही है, इसे निर्विवाद तथ्य नहीं कहा जा सकता है।

पार्श्व के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से जो प्राचीनतम साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध है, वह जैन आगम ऋषिभाषित का है। ऋषिभाषित जैन परम्परा के आगम ग्रन्थों में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पश्चात् का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ है। मेरी दृष्टि में इसका सम्भावित रचनाकाल ई० पू० चौथी शताब्दी है। एक स्वतन्त्र लेख में मैंने इस बात को अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर सम्पूर्ण जैन आगम साहित्य से प्राचीन है। उसकी भाषा-शैली, छन्द योजना तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता से रहित उदार दृष्टि ऐसे तथ्य हैं जो उसकी प्राचीनता को निर्विवाद रूप से सिद्ध करते हैं।[4] ऋषिभाषित में महावीर और बुद्ध के पूर्ववर्ती तथा समकालीन ४४ ऋषियों के नामोल्लेख पूर्वक उपदेश संकलित हैं। इनमें ब्राह्मण परम्परा के देव-नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज, उद्दालक, आरुणि आदि के, बौद्ध परम्परा के सारिपुत्र, महाकाश्यप एवं वज्जियपुत्त के, अन्य स्वतन्त्र श्रमण परम्परा के ऋषियों में मंखलि गोसाल आदि के तथा जैनपरम्परा पार्श्व एवं वर्धमान के उपदेश भी संकलित हैं। ऋषिभाषित के ऋषियों में सोम, यम, वरुण और वैश्रमण (कुबेर) इन चार लोकपालों को छोड़कर लगभग सभी ऋषि ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं। अतः पार्श्व की ऐतिहासिकता में भी हमें कोई सन्देह नहीं रहता है।

ऋषिभाषित के पार्श्व नामक इस अध्ययन की एक विशेषता यह भी है कि उसमें इस अध्याय का एक पाठान्तर भी दिया हुआ है जिसमें यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'गति व्याकरण' नामक ग्रन्थ में इस अध्याय का दूसरा पाठ पाया जाता है।[5] इससे इस अध्याय की विषयवस्तु तथा उससे सम्बन्धित व्यक्ति की ऐतिहासिकता की पुष्टि होती है। हमने एक स्वतन्त्र लेख में इस बात को भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ऋषिभाषित किसी भी स्थिति में ईसापूर्व

चतुर्थ शताब्दी के बाद का ग्रन्थ नहीं है। अतः इस ग्रन्थ का पार्श्व नामक अध्ययन पार्श्व के सम्बन्ध में प्राचीनतम साहित्यिक साक्ष्य के रूप में मान्य किया जा सकता है। ऋषिभाषित से परवर्ती जैन ग्रन्थों में सूत्रकृतांग, आचारांग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध), उत्तराध्ययन, भगवती, कल्पसूत्र, निरयावलिका, आवश्यक निर्युक्ति आदि में भी पार्श्व एवं पार्श्वापत्यों सम्बन्धी स्पष्ट उल्लेख है। कल्पसूत्र के अतिरिक्त इन सभी ग्रन्थों में पार्श्व के सिद्धान्तों के साथ-साथ पार्श्व के अनुयायी श्रमण-श्रमणियों और गृहस्थ उपासक-उपासिकाओं के उल्लेख हैं। कल्पसूत्र और समवायांग में पार्श्व के परिजनों का एवं जीवनवृत्त का भी संक्षिप्त उल्लेख है। अतः इन ग्रन्थों को भी पार्श्व की ऐतिहासिकता को प्रामाणित करने का एक महत्त्वपूर्ण आधार माना जा सकता है।[6]

आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में महावीर के माता-पिता को स्पष्ट रूप से पार्श्व का अनुयायी बताया गया है।[7] यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है कि महावीर के पूर्वोत्तर भारत में पार्श्व का प्रभाव था और उनके अनुयायी इस क्षेत्र में फैले हुए थे। इस तथ्य की पुष्टि पालि त्रिपिटक साहित्य से भी होती है। बुद्ध के चाचा वप्पसाक्य को निर्ग्रन्थों का उपासक कहा गया है।[8] प्रश्न यह होता है कि ये निर्ग्रन्थ कौन थे ? ये महावीर के अनुयायी तो इस लिये नहीं हो सकते कि महावीर बुद्ध के समसामयिक हैं। बुद्ध के चाचा का निर्ग्रन्थों का अनुयायी होना इस बात को सिद्ध करता है कि बुद्ध और महावीर के पूर्व निर्ग्रन्थों की कोई एक परम्परा थी और यह परम्परा पार्श्वापत्यों की ही हो सकती है। पार्श्वनाथ की परम्परा की प्राचीनता का एक और प्रमाण पालि त्रिपिटक साहित्य में यह है कि सच्चक का पिता निर्ग्रन्थ श्रावक था। सच्चक ने यह भी गर्वोक्ति की थी कि मैंने महावीर को परास्त किया। अतः सच्चक और महावीर समकालीन सिद्ध होते हैं।[8A] सच्चक के पिता का निर्ग्रन्थ श्रावक होना इस बात का सूचक है कि महावीर के पूर्व भी कोई निर्ग्रन्थ परम्परा थी और सच्चक पिता का उसी निर्ग्रन्थ परम्परा का श्रावक था। पालि त्रिपिटक में निर्ग्रन्थों को एक साटक कहा गया है।[9] चाहे आचारांग के अनुसार

महावीर ने अपने प्रव्रज्या के समय एक वस्त्र ग्रहण किया था।[10] किन्तु यदि हम उनके वस्त्र-सम्बन्धी इस उल्लेख को प्रामाणिक मानें तो भी इतना स्पष्ट है कि वे अपनी प्रव्रज्या के एक वर्ष के पश्चात् नग्न या अचेल हो गये थे और उन्होंने मुख्य रूप से अचेल धर्म का ही प्रतिपादन किया था।[11]

यह भी सत्य है कि महावीर की परम्परा में जो सचेलता सम्बन्धी अपवाद प्रविष्ट हुए वे पार्श्वापत्यों के प्रभाव के कारण हुए। यह भी हो सकता है कि प्रथम पार्श्वापत्यों की परम्परा का अनुसरण करके महावीर ने दीक्षा के समय एक वस्त्र ग्रहण किया हो। बाद में आजीवक परम्परा के अनुरूप अचेलता को स्वीकार कर लिया हो। जेकोबी ने The Sacred Books of the East, Vol XLV में ऐसी सम्भावना व्यक्त की है।[12] उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से महावीर को अचेल धर्म का प्रतिपादक और पार्श्व को सचेलक धर्म का प्रतिपादक कहा गया है।[13] इन सब आधारों पर ऐसा लगता है कि पालि त्रिपिटक में बुद्ध के चाचा वप्पसाक्य तथा सच्चक के पिता के निर्ग्रन्थों के अनुयायी होने के तथा निर्ग्रंथों के एक साटक होने के जो उल्लेख हैं, वे महावीर की परम्परा की अपेक्षा पार्श्व की परम्परा से ही अधिक सम्बन्धित जान पड़ते हैं। बौद्धों को महावीर और पार्श्व की परम्परा का अन्तर स्पष्ट नहीं था, अतः उन्होंने पार्श्व की परम्परा की अनेक बातों को महावीर की परम्परा के साथ जोड़ दिया। उदाहरण के रूप में पालित्रिपिटक में महावीर को चातुर्याम का प्रतिपादक कहा गया है।[14] जबकि वास्तविकता यह है कि महावीर नहीं, पार्श्व ही चातुर्याम के प्रतिपादक हैं। सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती एवं अन्य आगम ग्रन्थों में पार्श्व को चातुर्याम धर्म का और महावीर को पञ्चमहाव्रत तथा सप्रतिक्रमण धर्म का प्रतिपादक कहा गया है।[15] इससे ऐसा लगता है कि बौद्ध परम्परा में निर्ग्रन्थों का जो उल्लेख है वह पार्श्वनाथ की परम्परा से सम्बन्धित है। सूत्रकृतांग,[16] भगवती,[17] औपपातिक,[18] राजप्रश्नीय,[19] निरयावलिका[20] आदि आगम ग्रन्थों में पाये जाने वाले पार्श्वापत्यों के उल्लेख इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महावीर के समय के पार्श्वापत्यों का पूर्वोत्तर भारत में व्यापक प्रभाव था।

भगवती आदि आगम ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि महावीर के समय में पार्श्वापत्य पर्याप्त संख्या में उपस्थित थे। ऋषिभाषित एवं भगवती आदि के आधार पर यह भी स्पष्ट लगता है कि महावीर ने तत्त्वज्ञान सम्बन्धी अनेक अवधारणायें यथावत् रूप से पार्श्वापत्यों से ग्रहण की थी। भगवती में लोक की नित्यता और काल-चक्र की अनन्तता के सम्बन्ध में महावीर ने पार्श्वापत्यों की अवधारणा का समर्थन करते हुए स्पष्ट रूप से यह कहा था कि मैं भी यही मानता हूं।[21] ऋषिभाषित से स्पष्ट हो जाता है कि अस्तिकाय और अष्टविध कर्म-ग्रन्थियों की मान्यता मूलतः पार्श्वापत्यों की ही थी,[22] जिसे आगे चलकर महावीर की परम्परा में स्वीकार कर लिया गया था। इन सब आधारों पर हम पार्श्व की ऐतिहासिकता को निर्विवाद रूप से स्वीकार कर सकते हैं।

पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं उनसे स्पष्ट रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि पार्श्व एक काल्पनिक व्यक्ति नहीं, अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति थे। अनेक पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारकों ने पार्श्व की ऐतिहासिकता को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। डा० हरमन जेकोबी ने पार्श्व की ऐतिहासिकता को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं कि पार्श्व एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे इस सम्भावना को अब सभी लोगों के द्वारा स्वीकार कर लिया गया है।[23]

डा० चार्ल शार्पेन्टियर उत्तराध्ययनसूत्र की भूमिका में लिखते हैं कि जैनधर्म निश्चित रूप से महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चित रूप से एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में अस्तित्ववान् थे।[24]

प्रो० ए० एल० बाशम पार्श्व की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में लिखते हैं कि वर्धमान महावीर को पालि त्रिपिटक में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी के रूप में चित्रित किया गया है अतः उनकी ऐतिहासिकता असन्दिग्ध है। पार्श्व का भी चौबीस तीर्थंकरों में तेईसवें तीर्थंकर के रूप में स्मरण किया जाता है। अतः वे भी ऐतिहासिक व्यक्ति रहे होंगे[25]।

इसी प्रकार कोलब्रुक,[26] स्टीवेन्सन,[27] एडवर्ड टामस,[28] गेरीनाट,[29] इलियट,[30] पुसिन,[31] डा० बेलवलकर,[32] डा० दासगुप्ता,[33] डा० राधाकृष्णन्,[34] एवं मजुमदार[35] ने पार्श्वनाथ को महावीर के पूर्ववर्ती निर्ग्रन्थ परम्परा का नायक माना है और इस प्रकार उनकी ऐतिहासिकता को स्वीकार किया है।

जैन परम्परा में पार्श्वनाथ का स्थान

सामान्य जैनों में आज भी पार्श्वनाथ के प्रति जो आस्था देखी जाती है वह अन्य किसी तीर्थंकर के प्रति नहीं देखी जाती है। चरम तीर्थंकर स्वयं महावीर के प्रति भी उतनी आस्था नहीं है, जितनी पार्श्व के प्रति है। यद्यपि सिद्धान्ततः यह माना जाता है कि सभी तीर्थंकर समान हैं, फिर भी जिस तीर्थंकर का शासन होता है उसकी उस काल में विशेष प्रतिष्ठा रहती है, किन्तु आज जैन परम्परा में विशेष रूप से जैन उपासकों के हृदय में पार्श्वनाथ के प्रति जितनी अधिक श्रद्धा और आस्था है, उतनी महावीर के प्रति भी नहीं देखी जाती है। यदि हम जैन तीर्थों और तीर्थंकर-प्रतिमाओं का ही एक सर्वेक्षण करें तो हमें स्पष्ट रूप से यह ज्ञात हो जायेगा कि देश में आज भी सर्वाधिक तीर्थ और सर्वाधिक प्रतिमायें भी पार्श्वनाथ की हैं। शंखेश्वर पार्श्वनाथ, गौड़ी पार्श्वनाथ, चिन्तामणि पार्श्वनाथ, अमीझरा पार्श्वनाथ, अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ, अवन्तिका पार्श्वनाथ, मक्षी पार्श्वनाथ आदि को जैन उपासक आज भी अत्यन्त श्रद्धा के साथ पूजता है।

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि आखिर महावीर की अपेक्षा पार्श्वनाथ की जैन परम्परा में इतनी अधिक प्रतिष्ठा क्यों है? इस प्रश्न का सैद्धान्तिक उत्तर तो यह दिया जाता है कि सभी तीर्थंकर, तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन करके तीर्थंकर पद को प्राप्त करते हैं, किन्तु सभी तीर्थंकरों का तीर्थंकर-नाम-कर्म समान नहीं होता, किसी का तीर्थंकर नाम-कर्म विशिष्ट होता है और इसी कारण वह तीर्थंकर संघ में विशिष्ट रूप से पूजा और प्रतिष्ठा पाता है। परम्परागत मान्यता के अनुसार पार्श्वनाथ का तीर्थंकर नामकर्म अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा विशिष्ट था और इसीलिए उनकी पूजा और प्रतिष्ठा अधिक है।

इस प्रश्न का दूसरा सामान्य उत्तर यह भी हो सकता है कि चूँकि महावीर स्वयं पार्श्व को पुरुषादानीय, पुरुषश्रेष्ठ कहकर विशेष प्रतिष्ठा देते थे। अतः उनका उपासक वर्ग भी उनकी अपेक्षा पार्श्वनाथ को अधिक प्रतिष्ठा देता है। आचार्य हस्तीमल जी ने अपने ग्रन्थ जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग १, जो वस्तुतः इतिहास ग्रन्थ की अपेक्षा स्थानकवासी परम्परा की दृष्टि से लिखा गया पुराण ही है, में पार्श्व की विशेष प्रतिष्ठा का कारण यह बताया है कि आज देव मण्डल में अनेक देव और देवियाँ पार्श्व के शासन में देव योनि को प्राप्त हुए हैं, अतः उनके शासन की प्रभावना अधिक होने से वे अधिक पूज्य हैं।[36] कुछ लोगों का यह भी कहना है कि पार्श्व के यक्ष और यक्षी—धरणेन्द्र और पद्मावती पार्श्व के उपासकों पर शीघ्र कृपा करते हैं और उनकी मनोवांछित कामनाओं को पूरा करते हैं अतः जैन संघ में पार्श्व की प्रतिष्ठा अधिक है यद्यपि सिद्धान्ततः ये उत्तर अपनी जगह ठीक भी हों, किन्तु मेरी दृष्टि में जैनसंघ में पार्श्वनाथ की विशेष प्रतिष्ठा के पीछे मूलभूत कारण कुछ दूसरा ही है और वह मुख्यतः व्यावहारिक है।

जैन परम्परा में पार्श्व को विघ्नों का उपशमन करने वाला माना गया है। पार्श्वनाथ को वही स्थान प्राप्त है जो कि आज हिन्दू परम्परा के देवों में विनायक या गणेश को है। हिन्दू परम्परा में गणेश को विघ्ननाशक देवता के रूप में स्वीकार किया जाता है और हम देखते हैं कि हिन्दू परम्परा के प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान में सर्वप्रथम विनायक का आह्वान और स्थापना की जाती है ताकि वह अनुष्ठान निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो। चूँकि जैन परंपरा में भी पार्श्वनाथ को विघ्न-शामक तीर्थंकर के रूप में स्वीकार किया गया है और इसलिए उनकी विशेष प्रतिष्ठा है। यदि हम जैन स्तोत्र साहित्य और भक्ति साहित्य को देखें तो भी यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि जितने स्तोत्र पार्श्व के लिए निर्मित हुए उतने अन्य किसी भी तीर्थंकर के लिए नहीं। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि पार्श्व सम्बन्धी लगभग सभी स्तोत्रों या स्तुतियों में कहीं न कहीं उनसे विघ्न के उपशमन की अथवा लौकिक मंगल और कल्याण की अपेक्षा की गयी है। यद्यपि जैन धर्म सिद्धान्ततः अध्यात्म और तप-त्याग की

बात अधिक करता हैं, किन्तु यह सत्य है कि सभी मनुष्यों में कहीं न कहीं भौतिक सुख-सुविधाओं और लौकिक मंगल की आकांक्षा पाई जाती है और जब यह धारणा दृढ़मूल हो जाती है कि भौतिक मंगल और भौतिक ऐषणाओं की प्राप्ति अमुक देव के द्वारा विशेष रूप से होती है, तो स्वाभाविक रूप से वही देव मुख्य रूप से उपासक की आस्था का केन्द्र बन जाता है। जैन परम्परा में पार्श्वनाथ के साथ भी यही हुआ है। जैन स्तोत्र साहित्य में सबसे प्राचीन स्तोत्र 'उवसग्गहर' माना जाता है। यह स्तोत्र पार्श्वनाथ की स्तुति के रूप में ही निर्मित हुआ है। इसमें उन्हें मंगल और कल्याण का आवास, विष-पीड़ाओं और विघ्न-बाधाओं का उपशमन करने वाला माना गया है और उनसे यह प्रार्थना की गयी है कि वे उपासक के सभी विघ्नों का उपशमन करें।[37]

यद्यपि यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि जैन दर्शन के अनुसार पार्श्वनाथ तो वीतराग हैं, वे अपने भक्तों के विघ्नों के उपशमन तथा उसके मंगल और कल्याण के कर्ता किस प्रकार हो सकते हैं ? जैनों ने इस दार्शनिक समस्या के समाधान का एक मार्ग प्रस्तुत किया है; उनकी मान्यता है कि यद्यपि तीर्थंकर वीतराग होने के कारण न तो अपने भक्तों का कल्याण करता है और न उन भक्तों को पीड़ा देने वाले को दण्डित ही करता है; किन्तु तीर्थंकर के जो यक्ष-यक्षी या भक्त देवता होते हैं वे ही उन तीर्थंकरों के उपासक भक्तों के विघ्नों का उपशमन करते हैं और उनका हित साधन या कल्याण करते हैं। पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षिणियों में धरणेन्द्र और पद्मावती का उल्लेख आता है। धरणेन्द्र को पार्श्व-यक्ष के रूप में भी माना जाता है।[38] यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पार्श्व ही एक ऐसे तीर्थंकर हैं जिनके यक्ष को भी वही नाम दिया गया है। एक और मनोरंजक तथ्य यह भी है कि जैन परंपरा में पार्श्व यक्ष की जो प्रतिमायें निर्मित होती हैं वे ठीक गणेश की प्रतिमाओं के समान ही हस्तिशीर्ष (गजशीर्ष) से युक्त होती हैं।[39] गणेश और पार्श्व यक्ष की प्रतिमाओं में वाहन के अन्तर को छोड़कर पूर्णतया समानता देखी जाती है। यह भी सत्य है कि जैनधर्म में अनेक यक्ष-यक्षिणियों, विद्यादेवियों और शासन देवियों की मूर्तियों के लक्षणों को

हिन्दू परंपरा से ही ग्रहण किया गया है। जैन परम्परा में चक्रेश्वरी, अम्बिका, सिद्धायिक वैरोट्या आदि जिन देवियों की प्रतिष्ठा है, उनमें पार्श्व की यक्षिणी पद्मावती को ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। अनेकानेक जैन मन्दिरों में आपको पद्मावती की प्रतिमाएँ उपलब्ध होती है। हिन्दू परम्परा में जो स्थान दुर्गा का और बौद्ध परंपरा में तारा का है वही जैन परंपरा में पद्मावती का है। आज भी अनेक जैन उपासक और उपासिकायें पद्मावती के प्रति अत्यधिक भक्ति और श्रद्धा युक्त देखे जाते हैं। यद्यपि जैन परंपरा में महावीर के यक्ष और यक्षिणी भी माने गये हैं किन्तु देखने में यह आता है कि महावीर के यक्ष और यक्षिणियों की अपेक्षा पार्श्व के यक्ष और यक्षिणियों की ही जिन मन्दिरों में अधिक उपासना होती है। जैनों में यह आस्था दृढ़मूल हो चुकी है कि पार्श्व के यक्ष और यक्षी पार्श्व की अथवा स्वयं उनकी उपासना करने पर तत्काल विघ्नों का उपशमन करते हैं और भक्त का मंगल करते हैं। वस्तुतः यह एक ऐसा व्यावहारिक कारण है जिसके आधार पर हम यह समझ सकते हैं कि जैन परम्परा में पार्श्वनाथ के प्रति इतनी श्रद्धा और आस्था क्यों है? पार्श्वनाथ का जैन परंपरा में जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसके अनेक कारणों में प्रमुख कारण उन्हें विघ्न-विनाशक के रूप में स्वीकार कर लेना है।

पार्श्व का जीवनवृत्त

पार्श्व के जीवन के सम्बन्ध में हमें सर्वप्रथम उल्लेख कल्पसूत्र और समवायांग सूत्र में मिलते हैं। समवायांग सूत्र में पार्श्व के माता-पिता के नाम, शरीर की ऊँचाई, आयु, गणधरों की संख्या, श्रमण-श्रमणियों एवं गृहस्थ उपासक-उपासिकाओं की संख्या आदि के उल्लेख मिलते हैं।[40] कल्पसूत्र में पार्श्व संबंधी विवरण समवायांग की अपेक्षा कुछ विस्तृत है। उसमें सर्व प्रथम यह बताया गया है कि पार्श्व के पंच कल्याणक विशाखा नक्षत्र में हुए। वे चैत्र कृष्ण चतुर्थी को गर्भ में आये, पौष कृष्ण दशमी को अर्धरात्रि के पश्चात् विशाखा नक्षत्र में उनका जन्म हुआ। ३० वर्ष की अवस्था में पौष कृष्ण एकादशी को पूर्वाह्न में विशाखा नक्षत्र में वे आश्रमपद नामक उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे एक देवदूष्य वस्त्र लेकर प्रव्रजित हुए। प्रव्रजित होने के तिरासी रात्रि के व्यतीत हो

जाने के बाद चौरासीवें दिन ग्रीष्म ऋतु के प्रथम मास चैत्र के कृष्ण पक्ष की चतुर्थी को विशाखा नक्षत्र में पूर्वाह्नकाल में उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि कल्पसूत्र में पार्श्वनाथ को कमठ द्वारा दिये गये उपसर्ग का कोई उल्लेख नहीं है। मात्र यह कहा गया है कि उन्होंने देव, मनुष्य और तिर्यञ्च संबंधी अनुलोम और प्रतिलोम सभी उपसर्गों को समभाव से सहन किया। कल्पसूत्र के अनुसार पार्श्व के ८ गण तथा ८ गणधर हुए थे। उनके आठ गणधरों के नाम इस प्रकार हैं—(१) शुभ, (२) आर्यघोष, (३) वशिष्ठ, (४) ब्रह्मचारी, (५) सोम, (६) श्रीहरि, (७) वीरभद्र और (८) यश। किन्तु आवश्यक निर्युक्ति में पार्श्व के १० गणधर थे ऐसा उल्लेख है। इसी प्रकार अभयदेव की स्थानांग वृत्ति में भी पार्श्व के १० गणधरों का उल्लेख है। इन दोनों में पार्श्व के गणधरों का नामोल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र के अनुसार पार्श्व के आर्यदिन्न प्रमुख १६००० श्रमण और पुष्पचूला प्रमुख ३८००० आर्यिकायें थीं। विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहां पार्श्व के प्रधान श्रमण आर्यदिन्न कहे गये हैं जबकि पार्श्व के ८ गणधरों में कहीं भी उनका उल्लेख नहीं है। कल्पसूत्र में पार्श्व के सुव्रत प्रमुख एक लाख चौसठ हजार गृहस्थ उपासक और सुनन्दा प्रमुख तीन लाख सत्ताइस हजार श्राविकाएँ होने का भी उल्लेख है। पार्श्व ने अपने सामान्य जीवन के सत्तर वर्ष जन प्रतिबोध देते हुए व्यतीत किये और वर्षाऋतु के प्रथम-मास श्रावण शुक्ल अष्टमी को निर्वाण प्राप्त किया। पार्श्व के निर्वाण के १२३० वर्ष व्यतीत होने पर कल्पसूत्र लिखा गया।[41]

कल्पसूत्र में भी पार्श्व के सम्बन्ध में मात्र कुछ विस्तृत सूचनाएँ ही उपलब्ध होती हैं, उनका विस्तृत जीवनवृत्त नहीं मिलता है। श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ आवश्यकनिर्युक्ति और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति इनकी अपेक्षा कुछ अधिक सूचनाएँ प्रदान करते हैं किन्तु पार्श्व के जीवनवृत्त का उनमें भी अभाव है। पार्श्व का विस्तृत जीवनवृत्त को जानने का आधार मात्र ईसा की ८ वीं शताब्दी के पश्चात् लिखे गये चरित्रग्रन्थ ही हैं।

पार्श्वनाथ के माता-पिता, वंश एवं कुल

समवायांग, कल्पसूत्र और आवश्यकनिर्युक्ति में पार्श्व के पिता का

नाम आससेन (अश्वसेन) माता का नाम वामा बताया गया है।[42] जबकि दिगम्बर परम्परा के उत्तरपुराण और पद्मपुराण में पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मी लिखा है।[43] वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में पार्श्वनाथ की माता का नाम ब्रह्मदत्ता लिखा है।[44] इस प्रकार पार्श्वनाथ के माता-पिता के नाम श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। दिगम्बर परम्परा के ही अपेक्षाकृत कुछ प्राचीन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति में पार्श्वनाथ की माता का नाम वम्मिला कहा गया है।[45] यह नाम श्वेताम्बर पराम्परा के वामा से कुछ निकटता तो रखता है फिर भी दोनों को एक नहीं माना जा सकता। दिगम्बर परम्परा के अन्य कुछ ग्रन्थों में अश्वसेन के पर्यायवाची के रूप में हयसेन ऐसा नाम भी मिला है। नामों की यह भिन्नता विचारणीय है।

पार्श्वनाथ के कुल और वंश के संबंध में श्वेताम्बर आगम समवायांग और कल्पसूत्र में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। आवश्यकनिर्युक्ति पार्श्वनाथ के कुल का स्पष्टरूप से तो उल्लेख नहीं करती है, किन्तु उसमें अरिष्टनेमि एवं मुनिसुव्रत को छोड़कर शेष २२ तीर्थंकरों को काश्यप गोत्रीय कहा है।[46] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ उत्तरपुराण में पार्श्वनाथ को उग्रवंशीय कहा गया है।[47] तिलोयपण्णत्ति में भी उनको उग्रवंशीय बताया है।[48] यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि पार्श्व उरग वंश (नागवंश) के हो और उसी का रूपान्तरण भ्रान्तिवश उग्ग या उग्र के रूप में हो गया हो। हेमचन्द्र ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित में[49] और देवभद्र ने पार्श्वनाथ चरित में[50] उनको इक्ष्वाकु कुल का बताया है। क्षत्रियों में इक्ष्वाकु कुल प्रसिद्ध रहा है और संभवतः इसीलिए पार्श्व को भी इसी कुल का मान लिया गया हो। इस सब आधारों से ऐसा लगता है कि जैन परम्परा में पार्श्वनाथ के कुल, वंश एवं माता-पिता के नामों को लेकर एकरूपता नहीं है। वैसे उन्हें उरगवंशीय या नागवंशीय मानना अधिक उचित है। सम्भवतः उनके नागवंशीय होने से नाग को उनके साथ जोड़ा गया हो।

पार्श्व का नामकरण

पार्श्व के नामकरण के सन्दर्भ में आगम साहित्य में किसी घटना

का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यद्यपि आवश्यकचूर्णि, त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र, पासनाहचरिउ आदि के अनुसार पार्श्वनाथ के गर्भकाल में माता के द्वारा अंधेरी रात्रि में पास में चलते हुए सर्प को देखे जाने के कारण उन्हें पार्श्व ऐसा नाम दिया गया।[51] दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इन्द्र के द्वारा उनका नाम पार्श्व रखे जाने का उल्लेख है।[53] यद्यपि ये सभी कल्पनायें ही लगती हैं, कोई ठोस प्रमाण नहीं है।

पार्श्व का विवाह प्रसंग

पार्श्व के विवाह प्रसंग को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यों में मतभेद है। श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ समवायांग, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति आदि में हमें पार्श्वनाथ के विवाह के संबंध में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। श्वेताम्बर परम्परा के ही अन्य ग्रन्थ आवश्यकनिर्युक्ति तथा पउमचरियं में और दिगम्बर परम्परा के तिलोयपण्णत्ति, पद्मपुराण एवं हरिवंशपुराण में यह उल्लेख है कि वासुपुज्ज, मल्लि, नेमि, पार्श्व और महावीर—ये तीर्थंकर कुमार अवस्था में दीक्षित हुए शेष ने राज्य किया।[53] कुमार अवस्था में दीक्षित होने का अर्थ जहां दिगम्बर परम्परा अविवाहित होना मानती है वहाँ श्वेताम्वर परम्परा युवराज अवस्था ऐसा अर्थ करती है। 'कुमार' का अर्थ युवराज अवस्था करना अधिक संगत है क्योंकि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही ग्रन्थों में इस गाथा के अगले ही चरण में कहा गया है कि इन्होंने राज्य नहीं किया। आवश्यकनिर्युक्ति में प्रयुक्त 'कुमार' शब्द का अर्थ अविवाहित किया जा सकता है क्योंकि गाथा के अगले चरण में 'णो इत्थिया अभिसेया' पाठ मिलता है, जिसका अर्थ विवाह हो सकता है किन्तु अनेक प्रतियों में 'इत्थिया' के स्थान पर 'इच्छिया' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ होगा राज्याभिषेक की कामना नहीं की। पुनः आवश्यकनिर्युक्ति के कुमार शब्द का अर्थ अविवाहित करने पर आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में और उसमें अन्तर्विरोध होगा, क्योंकि आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध में महावीर के विवाहित होने का उल्लेख है।[54]

श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थ चउपन्नमहापुरिसचरियं,[55] त्रिषष्टि-शलाका पुरुषचरित्र[56] और देवभद्र के सिरिपासणाहचरिय[57] में

तथा परवर्ती श्वे० आचार्यों के पार्श्वनाथ चरित्रों में उनके विवाह का उल्लेख हुआ है। जबकि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति, पद्मचरित, उत्तरपुराण और वादिराजकृत पार्श्वनाथ चरित्र में कुशस्थल जाने और विवाह करने का उल्लेख नहीं है। दिगम्बर आचार्य पद्मकीर्ति ने कुशस्थल जाने और उनके विवाह प्रस्ताव का प्रसंग उठाकर भी विवाह होने का प्रसङ्ग नहीं दिया है।[58] इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्श्व के विवाह के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यों में मतभेद है। प्राचीन आगमिक प्रमाणों के इस सम्बन्ध में मौन होने से निर्णयात्मक रूप में कुछ कह पाना कठिन है। वस्तुतः पार्श्वनाथ के चरित्र लेखन में क्रमशः विकास देखा जाता है, इसलिए उसमें परंपरागत अनुश्रुतियों और लेखक की कल्पनाओं का मिश्रण होता रहा है।

कमठ और नागोद्धार की घटना

पार्श्व के जीवन वृत्त के साथ कमठ से हुए उनके विवाद और नाग-नागिन के उद्धार की घटना बहुचर्चित है। किन्तु प्राचीन श्वेताम्बर आगम समवायांग और कल्पसूत्र इस घटना के संबंध में भी मौन हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में भी इस संबंध में कोई उल्लेख नहीं है। कमठ तापस से उनके विवाद और नाग उद्धार की घटना का उल्लेख हमें श्वे० साहित्य में सर्वप्रथम चउपन्नमहापुरिसचरियं[59] में मिलता है। उसके अनुसार कमठ (कढ) नामक एक तपस्वी वाराणसी के निकट वन में तप कर रहा था। पार्श्वकुमार ने समूहों में पूजा सामग्री लेकर लोगों को जाते देखकर अपने अनुचरों से इस संबंध में पूछा कि ये लोग कहां जा रहे हैं? अनुचरों ने बताया कि नगर में कमठ नाम का एक महातपस्वी आया है। ये लोग उसी का वन्दन करने जा रहे हैं। पार्श्व भी कमठ को देखने गये। वहां उन्होंने देखा कि कमठ पंचाग्नि तप कर रहा है। हिंसा युक्त तप को देखकर पार्श्व ने तापस से कहा कि धर्म तो दया मूलक है, अग्नि को प्रज्ज्वलित करने से उसमें अनेक जीवों की हिंसा होती है। तपस्वी ने कुमार को कहा कि तुम अभी बालक हो तुम धर्म को क्या जानते हो? बताओ यहां किस जीव की हिंसा हो रही है? पार्श्व ने जलते हुए लक्कड़ को अग्नि से निकालकर सावधानी से चीरकर और उसमें जलते हुए सर्प को दिख-

लाया। कथा के अनुसार उसे णमोकारमन्त्र सुनवाया और वह मरकर धरणेन्द्र नामक देव हुआ। कमठ इस घटना के कारण लज्जित हुआ और जन-सामान्य में उसकी प्रतिष्ठा गिरी। फलतः वह पार्श्व का विरोधी बन गया। कथानक के अनुसार कमठ मरकर मेघमाली नामक देव हुआ और उसने जब पार्श्वनाथ साधना कर रहे थे अतिवृष्टि करके उन्हें उपसर्ग (कष्ट) दिया। उस समय धरणेन्द्र ने आकर पार्श्व को जल से ऊपर ऊठाया। परवर्ती पार्श्व चरित्र संबन्धी विभिन्न ग्रन्थों में भी इस घटना के वर्णन में भिन्नता है। पद्मकीर्ति के पार्श्वनाथ चरित्र[60] के अनुसार यवनराज को परास्त करने के पश्चात् पार्श्व कुशस्थल में निवास कर रहे थे। उसी समय उन्होंने अनेक लोगों को अर्चना की सामग्री लेकर नगर के बाहर जाते देखा। राजा रविकीर्ति से पूछने पर ज्ञात हुआ कि उस स्थल से एक योजन की दूरी पर वनखण्ड में अनेक तापस निवास करते हैं और कुशस्थल के निवासी उनके परम भक्त हैं। पार्श्वनाथ ने वहाँ जाकर देखा कि कुछ तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहे हैं। कुछ धूम्र-पान कर रहे हैं, कुछ लोग पाँव के बल वृक्षों पर लटके हैं और उनका शरीर अत्यंत कृश हो गया है। उसी समय पार्श्व ने कमठ नामक एक तापस को जंगल से लकड़ी का एक बोझ लेकर आते हुए देखा। वह लकड़ी को अग्नि में डालना ही चाहता था कि पार्श्व ने उसे रोका और कहा कि इसमें भयङ्कर सर्प हैं। क्रोधवश कमठ ने उस लक्कड़ को चीरा और उसमें से एक सर्प निकला, जो कि लक्कड़ के चीरने के कारण क्षत-विक्षत हो चुका था। पार्श्व ने उसे णमोकारमन्त्र सुनाया और वह नागराजाओं के बीच वीरदेव के रूप में उत्पन्न हुआ। उत्तरपुराण[61] में गुणभद्र ने इसी घटना को पार्श्वनाथ के ननिहाल में घटित होना बताया। साथ ही तापस के रूप में पार्श्व के नाना महीपाल का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त घटना के घटना-स्थल को लेकर भी विविधता है। चउपन्नमहापुरिसचरियं में इस घटना को वाराणसी में घटित होना बताया गया है। जबकि उत्तरपुराण में उसे पार्श्व के नाना के आश्रम में घटित होना बताया है। पद्मकीर्ति ने पार्श्वनाथ चरित्र में इसे कुशस्थल में होना बताया है। इसी प्रकार चउपन्नमहापुरिसचरियं

में जहाँ पार्श्वनाथ अपने अनुचरों के द्वारा अग्नि से लकड़ी को निकलवाकर चिरवाते हैं, वहां उत्तरपुराण और पार्श्वनाथ चरित्र में स्वयं कमठ उस लकड़ी को चीरता है। चउपन्नमहापुरिसचरियं, सिरिपासनाहचरियं, त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र और पद्मचरित्र में केवल नाग का उल्लेख है, नागिन का नहीं। जबकि उत्तर पुराण में सर्प युगल की बात कही है और माना है कि नाग मरकर धरणेन्द्र और नागिन मरकर धरणेन्द्र की स्त्री पद्मावती बनी है।[62] यद्यपि श्वेताम्बर आगम स्थानांग, भगवती और ज्ञातासूत्र में धरणेन्द्र की जिन छह अग्रमहिषियों का उल्लेख है उसमें पद्मावती का कहीं उल्लेख नहीं है[63] यद्यपि ज्ञाताधर्म कथा के अनुसार धरणेन्द्र की ये अग्रमहिषियाँ पार्श्व के शासन में बनी हैं किन्तु उसके साथ उपर्युक्त कथानक का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। इस कथानक में एक विसंगति यह भी है कि पार्श्व के यक्ष के रूप में पार्श्व यक्ष और यक्षिणी के रूप में पद्मावती का उल्लेख मिलता है। धरणेन्द्र को भवनपति देवों का इन्द्र बताया गया है जबकि पद्मावती को यक्षिणी बताया गया है। जैन मान्यता के अनुसार यक्ष व्यन्तर देवों की एक जाति है। अतः पद्मावती को धरणेन्द्र की अग्रमहिषी मानना आगमिक दृष्टि से युक्ति संगत नहीं है।[64] फिर भी पार्श्वचरित्रों के लेखक धरणेन्द्र और पद्मावती के बीच सम्बन्ध जोड़ देते हैं।

पार्श्व का विहार क्षेत्र

आवश्यक निर्युक्ति की सूचना के अनुसार जहाँ अन्य तीर्थंकरों ने केवल मगध, राजगृह, आदि आर्य क्षेत्रों में विहार किया था वहाँ ऋषभ, नेमि, पार्श्व और महावीर ने अनार्य क्षेत्रों में भी विहार किया था।[65] इससे ऐसा लगता है कि अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा ऋषभ, नेमि, पार्श्व और महावीर के विहार क्षेत्र अधिक व्यापक थे। यद्यपि परवर्ती पार्श्वचरित्रों के लेखकों ने पार्श्व के विहार क्षेत्रों में कुरु, कौशल, काशी, सुम्ह, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकड़, मेवाड़, लाट, द्राविड़, काश्मीर, कच्छ, शाक, पल्लव, वत्स, और आभीर देश का उल्लेख किया।[66] किन्तु मेरी दृष्टि में उनका विहार क्षेत्र वर्तमान उत्तर प्रदेश, विहार, पूर्वी मध्य प्रदेश, उड़ीसा और बंगाल तक सीमित

रहा होगा। पार्श्व और महावीर के काल में बंगाल अनार्य क्षेत्र माना जाता था। निर्युक्ति का अनार्य भूमि से तात्पर्य उसी क्षेत्र से है।

पार्श्व के कथानक का ऐतिहासिक विकासक्रम

जैसा कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं, पार्श्वनाथ के जीवन वृत्त के संबंध में प्राचीन उल्लेख अल्पतम ही हैं। किन्तु इसके विपरीत पार्श्वनाथ के उपदेश, उनकी धार्मिक और दार्शनिक मान्यताएँ, पार्श्वापत्य श्रमणों का स्वयं महावीर से अथवा महावीर के श्रमणों से मिलने एवं तत्त्वचर्चा करने आदि के उल्लेख प्राचीन आगम साहित्य में पर्याप्त रूप से उपलब्ध है। पार्श्व के जीवन वृत्त के संबन्ध में समवायांग, कल्पसूत्र एवं आवश्यकनिर्युक्ति में उनका वंश, माता-पिता के नाम, गर्भावतरण, जन्म, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण की तिथियाँ एवं नक्षत्र, गणधरों के नाम तथा श्रमण-श्रमणी एवं उपासक-उपासिकाओं की संख्या संबंधी उल्लेख मिलते हैं।[67] पार्श्वनाथ के जीवनवृत्त की प्रमुख घटनाओं के संबंध में ये ग्रन्थ लगभग मौन ही हैं। साथ ही कल्पसूत्र, समवायांग, आवश्यकनिर्युक्ति एवं तिलोयपण्णत्ति के सब विवरण २४ तीर्थंकरों की मान्यता के स्थिर होने के पश्चात् अर्थात् लगभग तीसरी-चौथी शताब्दी के बाद के ही लगते हैं। आगम साहित्य में पार्श्व संबंधी विवरणों में प्राचीन स्तर के विवरण तो मात्र पार्श्वापत्यों के महावीर एवं महावीर के श्रमणों से मिलन को तथा पार्श्व की तात्विक तथा आचार संबंधी मान्यताओं को सूचित करते हैं। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह स्थिति केवल पार्श्व के संबंध में ही नहीं है, अपितु सभी भारतीय चिन्तकों और साधकों के संबंध में भी है।

प्राचीन युग में केवल उपदेश भाग को ही महत्ता दी जाती थी और इसलिए उसी को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाता था। जैन परंपरा में पार्श्व के संबंध में विकसित कथानकों में उनके एवं कमठ के पूर्व भवों तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवरण, इस भव में घटित कमठ तापस सम्बन्धी घटना, पार्श्व का यवन राज को विजित करने के लिए प्रस्थान करना तथा प्रसेनजित की

पुत्री प्रभावती के साथ उनके विवाह संबंधी प्रस्ताव-चर्चा प्रमुख रूप से उपलब्ध होती है। किन्तु जैसा कि हमने देखा ये सब विवरण आगम साहित्य में और निर्युक्तियों में कहीं भी उपलब्ध नहीं होते हैं। श्वेताम्बर परंपरा में पार्श्व से संबंधित उपर्युक्त सभी कथानक विकसित रूप से सर्वप्रथम शीलांक के चउपन्नमहापुरिएचरियं में उपलब्ध होते हैं।[68] यह ग्रन्थ लगभग ईसा की नौवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखा गया है। इसके बाद के सभी टीकाकारों और ग्रन्थकारों ने इन घटनाओं का उल्लेख किया है। दिगम्बर परंपरा में पार्श्वनाथ के कथानक संबंधी विवरण का प्राचीनतम आधार यतिवृषभ कृत तिलोयपण्णत्ति है,[69] किन्तु उसमें भी श्वेताम्बर आगम साहित्य के अनुरूप ही तीर्थंकरों के जन्म स्थान, पंच कल्याणक उनके नक्षत्र, माता-पिता आदि संबंधी उल्लेख मात्र मिलते हैं। पार्श्व के संबंध में विस्तृत कथानक का इसमें भी अभाव है। दिगम्बर परंपरा में पार्श्व का विस्तृत कथानक सर्वप्रथम जिनसेन के पार्श्वाभ्युह्य एवं गुणभद्र के उत्तर-पुराण में उपलब्ध होता है।[70] ग्रन्थ भी ईसा की ९वीं शताब्दी में लिखे गये है। अतः श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परंपराओं में पार्श्व से संबंधित विस्तृत कथानक हमें नवीं शताब्दी से पूर्व उपलब्ध नहीं होते हैं। परवर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में पार्श्वनाथ पर जो भी चरित्र ग्रन्थ लिखे गये हैं उन सबमें इन्हीं कथानकों का विकास देखा जाता है। वे सभी भी पार्श्व के सम्बन्ध में उनके पूर्व भव, कमठ सम्बन्धी घटना तथा प्रभावती की और प्रसेनजित के राज्य की यवनराज के आक्रमण से सुरक्षा आदि के उल्लेख से युक्त हैं। 'यवनराज' शब्द स्वयं इस कथानक को परवर्ती काल का सिद्ध करता है।

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि पार्श्व के जीवन वृत्त के संबंध में विस्तृत विवरण और कथानक जिनका उल्लेख श्वेताम्बर परंपरा में 'चउप्पनमहापुरुषचरियं' में आचार्य शीलांक और दिगम्बर परंपरा के उत्तरपुराण में गुणभद्र करते हैं, वे क्या उनकी ही कल्पना की सृष्टि है या उसके पूर्व ये कथानक कहीं अन्यत्र वर्णित थे। प्रामाणिक साक्ष्य के अभाव में आज इस संबंध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कह पाना कठिन होगा, किन्तु इतना अवश्य कहा जा

सकता है कि अनुश्रुति के रूप में ये कथानक इनके पूर्व भी प्रचलित रहे होंगे। कल्पसूत्र भी कम से कम इतना उल्लेख अवश्य करता है कि पार्श्वनाथ ने अपने साधनाकाल में देव, मनुष्य और तिर्यञ्च संबंधित अनेक उपसर्गों को सहन किया। सम्भवतः इसी आधार पर आगे कमठ संबंधी घटनाक्रम का विवरण लिखा गया होगा। पार्श्वनाथ और कमठ के इसी कथानक का विकास पार्श्वनाथ के पूर्व भवों संबंधी विवरणों में भी देखा जाता है। पार्श्व के जीवनवृत्त में कमठ संबंधी घटनाक्रम को स्थान देने के दो उद्देश्य हैं, प्रतीत होते प्रथम तो इस घटनाक्रम द्वारा श्रमण परंपरा में विकसित अविवेकपूर्ण देह-दण्डन की आलोचना कर विवेकपूर्ण ज्ञानमार्गी साधना की प्रतिष्ठा करना और दूसरा कर्मसिद्धांत की अनिवार्यता को सिद्ध करना।

प्रभावती संबंधी प्रसंग परवर्ती सभी श्वेताम्बर और कुछ दिगम्बर ग्रन्थों में उपलब्ध है। मात्र अन्तर यह है कि जहाँ श्वेताम्बर परंपरा के कथा लेखक प्रभावती की यवनराज से सुरक्षा करने के साथ-साथ बाद में प्रसेनजित और अश्वसेन के आग्रह पर उसके साथ पार्श्व के विवाह का भी उल्लेख कर देते हैं; वहाँ दिगम्बर परंपरा के वे ग्रन्थकार जिन्होंने इस प्रसंग को चित्रित किया है, पार्श्व की वैराग्य भावना को प्रदर्शित कर विवाह के लिए उनके स्पष्ट निषेध को चित्रित करते हैं। इस घटनाक्रम में जो यवनराज का उल्लेख है उससे ऐसा लगता है कि यह कथानक यवनों के भारत प्रवेश के पश्चात् ही कभी विकसित हुआ होगा। पार्श्व के जीवन वृत्त संबंधी घटनाक्रमों के प्राचीन उल्लेखों के अभाव से हमें पार्श्व के अस्तित्व और उनकी ऐतिहासिकता के संबंध में कोई प्रश्न चिह्न नहीं खड़ा करना चाहिए, क्योंकि उनके एवं उनकी परंपरा के अस्तित्व तथा उनके उपदेशों से संबंधित विवरण ऋषिभाषित, आचारांग द्वितीय-श्रुतस्कन्ध, सूत्रकृतांग और भगवती जैसे प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से उपलब्ध हैं।

पार्श्वनाथ का अवदान

भारतीय संस्कृति की श्रमण धारा मूलतः त्याग और तप को प्रधानता देती है और इसी कारण ही इसकी लोक में प्रतिष्ठा रही है। यह सुनिश्चित है कि पार्श्वनाथ इसी श्रमण परम्परा के प्रवक्ता

हैं, किन्तु उनका इस श्रमण परम्परा को एक विशिष्ट अवदान है। यद्यपि श्रमणों ने वैदिकों के हिंसक यज्ञ-याज्ञों का खण्डन कर उनकी कर्मकाण्डी परम्परा को अस्वीकार कर दिया था, किन्तु श्रमण धारा में भी यह कर्मकाण्ड किसी तरह प्रविष्ट हो गया था। उसमें भी तप और त्याग-विवेक प्रधान न रह कर कर्मकाण्ड-प्रधान बन गये थे। ऐसा लगता है कि पार्श्वनाथ के युग में श्रमण धारा में भी तप और त्याग के साथ कर्मकाण्ड पूरी तरह जुड़ा हुआ था और तप बाह्याडम्बर और देहदण्डन की एक प्रक्रिया से अधिक कुछ नहीं था। कठोरतम देहदण्डन द्वारा लोक में अपनी प्रतिष्ठा को अर्जित करना ही उस युग के श्रमणों और संन्यासियों का एकमात्र उद्देश्य था। औपनिषदिक ऋषियों की ज्ञानमार्गी धारा अभी अपना रूप ले रही थी अतः सम्भव यही लगता है कि पार्श्व ने सर्वप्रथम श्रमण परम्परा में प्रविष्ट हुए इस देहदण्डन और कर्मकाण्ड का विरोध किया। उनके जीवनवृत्त में कमठ तापस का जो विवरण जुड़ा है, उसका उद्देश्य भी तप और ध्यान को मात्र देह दण्डन की प्रक्रिया से मुक्त करना है।

पार्श्वनाथ अभी युवा ही हुए थे, उन्होंने देखा कि वैदिक परम्परा के यज्ञों में प्राणियों का बलिदान हो रहा है। किन्तु वैदिकों की पर-पीडन की प्रवृत्ति का स्थान श्रमण धारा में स्व-पीडन ने ले लिया दूसरों को बलिवेदी पर चढ़ाने के स्थान पर व्यक्ति स्वयं अपने को बलिदान की वेदी पर चढ़ाने लगा है। पर-पीड़न की वृत्ति आत्म-पीड़न के रूप में विकसित होने लगी थी और उस आत्म-पीड़न में भी किसी न किसी रूप में पर-पीड़न जुड़ा हुआ था। इसीलिये पार्श्व कुमार को कमठ से कहना पड़ा होगा कि तुम्हारी इस साधना में आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति कहाँ है ? इसमें न तो स्वहित है और न परहित या लोकहित। खुद भी पीड़ित हो रहे हो और दूसरों को भी पीड़ित कर रहे हो। एक ओर पंचाग्नि तप की इस ज्वाला से तुम्हारा शरीर झुलस रहा है तो दूसरी ओर उसमें छोटे-बड़े अनेक जीव-जन्तु भी झुलस रहे हैं। न जाने कितने कीट-पतंग तुम्हारी इस अग्नि की ज्वाला में जीवन की बलिवेदी पर चढ़ रहे हैं। मात्र यही नहीं तुम जिस लक्कड़ को जला रहे हो उसमें एक नाग युगल भी जल रहा है। पार्श्व के कथानक में लक्कड़ को खींचकर उसमें से उस नाग युगल को बचाने

की जो घटना वर्णित है, वह यह बोध कराती है कि ऐसी साधना जिसमें आत्म-पीड़न और पर-पीड़न जुडा हो, सच्ची साधना नहीं हो सकती। साधना में ज्ञान और विवेक की प्रतिष्ठा आवश्यक है। वह देहदण्डन भी जिसमें ज्ञान और विवेक के तत्त्व नहीं हैं, आत्म-पीड़न से अधिक कुछ नहीं है। देह को पीड़ा देना साधना नहीं है। साधना तो मनो-विकारों की निर्मलता है, आत्मा में सहज आनन्द की अनुभूति है। पार्श्व की यह हितशिक्षा चाहे कमठ जैसे उस युग के तापसों को अच्छी न लगी हो किन्तु इसमें एक सत्य निहित है। धर्म साधना को न तो दूसरों की पीड़ा के साथ जोड़ना चाहिए और न आत्म-पीड़न के साथ। मुक्ति प्राप्ति का अर्थ है वासना और विकारों से मुक्ति।[71]

ऐसा लगता है कि पार्श्वनाथ ने अपने युग में धर्म और साधना के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण क्रान्ति की होगी। उन्होंने साधना को सहज बनाने का प्रयत्न किया और उसमें ज्ञान और विवेक के तत्त्व को प्रतिष्ठित किया। भगवान् बुद्ध ने आगे चलकर उभय अन्तों के परित्याग के रूप में जिस धर्ममार्ग का प्रवर्तन किया था उसका मूलस्रोत पार्श्व की परम्परा में निहित था। पार्श्व धर्म और साधना को पर-पीड़न और आत्म-पीड़न से मुक्त करके आत्म शोधन या निर्विकारता की साधना के साथ जोड़ते हैं और यही उनका भारतीय संस्कृति और श्रमण परम्परा को सबसे बड़ा अवदान है।

पार्श्व की धार्मिक और दार्शनिक मान्यतायें

जहाँ तक पार्श्व की मान्यताओं का प्रश्न है, आज हमें उनकी परम्परा का ऐसा कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता जो इस पर प्रकाश डालता हो। पार्श्व की दार्शनिक और आचार सम्बन्धी मान्यताओं को जानने और समझने के हमारे पास जो भी प्राचीनतम साधन उपलब्ध हैं वे श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगम ग्रन्थ ही हैं। इनमें भी ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें पार्श्व के नाम से एक स्वतन्त्र अध्याय है।[72] जिसमें उनकी दार्शनिक और आचार सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट किया गया है। तुलनात्मक अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ऋषिभाषित प्रत्येक ऋषि के उपदेश को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करता है। याज्ञवल्क्य, मंखलीगोशाल,

महाकश्यप, सारिपुत्र आदि अध्यायों को देखने से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। अतः उसमें प्रस्तुत पार्श्व के विचार भी प्रामाणिक माने जा सकते हैं। ऋषिभाषित के पश्चात् श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों में उत्तराध्ययन का स्थान आता है जिसमें गौतम केशी के संवाद में पार्श्व की परम्परा की मुख्य मान्यताओं के सम्बन्ध में संक्षिप्त सूचनायें उपलब्ध होती हैं।[73] इसके पश्चात् सूत्रकृतांग और भगवती में कुछ ऐसे प्रसंग हैं जहाँ पार्श्वापत्यों द्वारा या उनके माध्यम से पार्श्व की मान्यताओं को संकेतित किया गया है। भगवती का एक स्थल तो ऐसा है जहाँ महावीर पार्श्व की मान्यताओं से अपनी सहमति भी प्रकट करते हैं।[74] 'रायपसेनिय' में राजा पयासी (प्रदेशी) और केशी के बीच हुए संवाद में आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं वे भी पार्श्व की परम्परा से सम्बन्धित माने जा सकते हैं।[75] क्योंकि उनके प्रतिपादक केशी स्वयं पार्श्व की परम्परा से सम्बन्धित हैं। सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और आवश्यकनिर्युक्ति में कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहाँ पार्श्व की परम्परा और महावीर की परम्परा में अन्तर को स्पष्ट किया गया है।[76]

प्रस्तुत प्रसंग में इन्हीं सब आधारों पर हम पार्श्व की मूलभूत दार्शनिक और आचार सम्बन्धी मान्यताओं को स्पष्ट करेंगे। साथ ही उनमें और महावीर की मान्यताओं में क्या अन्तर रहे हैं, अथवा महावीर ने पार्श्व की परम्परा को किस प्रकार संशोधित किया है, इसकी चर्चा करेंगे।

ऋषिभाषित में वर्णित पार्श्व का धर्म और दर्शन

जैसा कि हम पूर्व में संकेत कर चुके हैं कि पार्श्व के उपदेशों का प्राचीनतम सन्दर्भ हमें ऋषिभाषित में प्राप्त होता है। ऋषिभाषित में पार्श्व की मान्यता के सन्दर्भ में से दर्शन सम्बन्धी और आचार सम्बन्धी दोनों ही पक्ष उपलब्ध होते हैं। यहां हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ऋषिभाषित में पार्श्व नामक अध्ययन ही ऐसा है जिसका एक पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। ग्रन्थकार ने इसकी चर्चा करते हुए स्वयं ही कहा है कि "गति व्याकरण नामक ग्रन्थों में इस अध्याय का दूसरा पाठ भी देखा जाता है।"[77] इस सूचना के साथ

उसमें इस अध्याय के पाठान्तर को सम्पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम हम ऋषिभाषित के इसी अध्याय के आधार पर पार्श्व के दर्शन और धर्म को समझने का प्रयत्न करेंगे।

दार्शनिक दृष्टि से ऋषिभाषित में मुख्यतः लोक के स्वरूप की तथा जीव और पुद्गल की गति की, कर्म एवं उसके फल-विपाक की और विपाक के फलस्वरूप विविध गतियों में होने वाले संक्रमण की चर्चा की गयी है। आचार संबंधी चर्चा के सन्दर्भ में मुख्यरूप से इसमें चातुर्याम, निर्जीव-भोजन और मोक्ष की चर्चा हुई है।

"प्रथम प्रश्न है—लोक क्या है ? उत्तर में कहा गया है कि जीव और अजीव यही लोक हैं। पुनः प्रश्न किया गया कि लोक कितने प्रकार का है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि लोक चार प्रकार का है : द्रव्य लोक, क्षेत्र लोक, काल लोक और भाव लोक। लोकभाव किस प्रकार का है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि लोक-स्वतः अस्तित्ववान् है। स्वामित्व की दृष्टि से यह लोक जीवों का है। निर्माण की दृष्टि से यह लोक जीव और अजीव दोनों से निर्मित है। लोक-भाव किस प्रकार का है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि यह लोक अनादि, अनिधन और पारिणामिक (परिवर्तनशील) है। इसे लोक क्यों कहा जाता है ? इसके प्रत्युत्तर में कहा गया है कि अवलोकित या दृश्यमान होने से इसे लोक कहा जाता है। लोक-व्यवस्था गति (परिवर्तन) पर आधारित है। गति सम्बन्धी प्रश्नों के प्रत्युत्तर में कहा गया है कि गमनशील होने से इसे गति कहा जाता है। जीव और पुद्गल दोनों ही गति करते हैं। यह गति भी चार प्रकार की है—द्रव्यगति, कालगति, क्षेत्रगति और भावगति। यह गति-भाव अर्थात् गति का चक्र अनादि और अनिधन है।

इसी प्रसंग में पार्श्व के कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जीव स्वभावतः ऊर्ध्वगामी होते हैं और पुद्गल अधोगामी। जीव कर्म-प्रधान हैं और पुद्गल परिणाम प्रधान। जीव की गति कर्म से प्राप्त फल विपाक के द्वारा होती है और पुद्गल की गति परिणाम के विपाक (स्वाभाविक परिवर्तन) के द्वारा होती है। कोई भी कषाय अर्थात् हिंसा से युक्त होकर शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

जीव दो प्रकार की वेदना का अनुभव करते हैं (सुख रूप और दुःख रूप)। प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से विरत होकर जीव सुख का वेदन करता है। इसके विपरीत हिंसा आदि कृत्यों से जीव भय और दुःख को प्राप्त होता है। जिसने अपने कर्तव्य मार्ग का निश्चय कर लिया है, जो संसार में जीवन निर्वाह के लिये निर्जीव पदार्थों का ही आहार करता है, जिसने आस्रवों के द्वार बन्द कर लिये हैं ऐसा भिक्षु इस संसार प्रसूत वेदना का छेदन करता है। संसार / भव भ्रमण का नाश करता है और भव-भ्रमण जन्य वेदना का नाश करता है। उसका संसार समाप्त हो जाता है और उसकी सांसारिक वेदना अर्थात् संसार के दुःख भी समाप्त हो जाते हैं। वह बुद्ध, विरत, विपाप और शान्त होता है और पुनः संसार में जन्म नहीं लेता है।"[78]

ऋषिभाषित में पार्श्व की मान्यताओं को पाठभेद से दो प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। इसी 'ग्रन्थ में गति व्याकरण' नामक ग्रन्थ में उपलब्ध पाठ के आधार पर पार्श्व की मान्यताओं को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है—"जीव और पुद्गल दोनों ही गतिशील हैं। गति दो प्रकार की है—प्रयोगगति (परप्रेरित) और विस्रसागति। ये (स्वतः प्रेरित) गतियाँ जीव और पुद्गल दोनों में ही होती हैं। औदायिक और पारिणामिक—ये गति के रूप है और गमनशील होने से इसे गति कहते हैं। जीव ऊर्ध्वगामी होते हैं और पुद्गल अधोगामी। पाप कर्मशील जीव परिणाम (मनोभाव) से गति करता है और वह पुद्गल की गति में प्रेरक भी होता है। जो पापकर्मों का वशवर्ती है वह कभी भी दुःख रहित नहीं होगा, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त नहीं होगा। वे पाप-कर्म प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक हैं। वह असम्बुद्ध अर्थात् ज्ञान रहित जीव कर्म के द्वारों को न रोकने वाला, चातुर्याम धर्म से रहित, आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थि को बाँधता है और उन कर्मों के विपाक के रूप में नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव गति को प्राप्त करता है। जीव स्वकृत कर्मों के फल का वेदन करता है परकृत कर्मों का नहीं। सम्यक् सम्बुद्ध जीव कर्म आगमन के द्वारों को बन्द कर देने वाला, चातुर्याम धर्म का पालन करने वाला आठ प्रकार की कर्म-ग्रंथि को नहीं बाँधता है और इस प्रकार उनके विपाक के रूप में नारक, देव, मनुष्य और पशु गति को भी प्राप्त नहीं होता है।"[79] इस प्रकार ऋषिभाषित के आधार पर

पार्श्वनाथ की दार्शनिक और आचार संबंधी मान्यताओं का एक संक्षिप्त चित्र यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

अन्य आगम ग्रन्थों में वर्णित पार्श्व का धर्म और दर्शन

यदि हम सूत्रकृतांग की ओर आते हैं तो हमें पार्श्वनाथ की मान्यताओं के सम्बन्ध में कुछ और अधिक जानकारी प्राप्त होती है। सूत्र कृतांग में 'उदक पेढालपुत्र' नामक पार्श्वापत्य श्रमण की महावीर के प्रधान गणधर गौतम से हुई चर्चा का उल्लेख है। उदक पेढालपुत्र गौतम से प्रश्न करते हैं कि आपकी परम्परा के कुमारपुत्रीय श्रमण श्रमणोपासक को इस प्रकार का प्रत्याख्यान कराते हैं कि "राजाज्ञादि कारण से किसी गृहस्थ को अथवा चोर को बांधने-छोड़ने के अतिरिक्त मैं किसी त्रस जीव की हिंसा नहीं करूँगा।" किन्तु इस तरह का प्रत्याख्यान दुःप्रत्याख्यान है, क्योंकि त्रस जीव मरकर स्थावर हो जाता है और स्थावर जीव मरकर त्रस हो जाता है। अतः उन्हें इस प्रकार सविशेष प्रत्याख्यान करवाना चाहिये कि "मैं राजाज्ञादि कारण से गृहस्थ को अथवा चोर को बांधने या छोड़ने के अतिरिक्त त्रसभूत अर्थात् त्रस पर्याय वाले किसी जीव की हिंसा नहीं करूँगा। इस प्रकार 'भूत' अर्थात् त्रस अवस्था को प्राप्त विशेषण लगा देने से उक्त दोषापत्ति नहीं होगी। गौतम ने उनकी इस शंका का समाधान करते हुए इस बात को विस्तार से स्पष्ट किया है कि प्रत्येक प्रत्याख्यान किसी भी जीव की अवस्था विशेष से ही सम्बन्धित होता है। जो त्रस प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान करता है वह त्रस पर्याय में रहे हुए जीवों की ही हिंसा का प्रत्याख्यान करता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति श्रमण पर्याय त्यागकर गृहस्थ बन जाय तो वह गृहस्थ ही कहा जायेगा, श्रमण नहीं; इसी प्रकार त्रस काय से स्थावर काय में गया जीव स्थावर है त्रस नहीं।[80] इस चर्चा से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं पार्श्वापत्यों में भी हिंसा आदि के प्रत्याख्यान की परम्परा थी और साथ ही वे प्रत्याख्यान की भाषा के प्रति भी अत्यन्त सजग थे।

भगवती सूत्र में पार्श्वापत्य गांगेय अनगार और भगवान् महावीर की चर्चा का उल्लेख है। इसमें चारों गतियों में जन्म और मृत्यु के

सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा है। इस चर्चा में मुख्य रूप से इस दार्शनिक प्रश्न को भी स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार सत् ही उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है। महावीर जब यह कहते हैं कि सत् ही उत्पन्न होता है और सत् ही विनष्ट होता है तो गांगेय स्वाभाविक रूप से यह दार्शनिक समस्या उपस्थित करते हैं कि सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? यदि वह उत्पन्न होता है तो इसका अर्थ होगा कि वह पहले असत् था, पुनः जो विनाश को प्राप्त होता है वह भी सत् कैसे हो सकता है? इस प्रकार सत् के उत्पन्न और नष्ट होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जो असत् है उसका भी उत्पाद और विनाश नहीं हो सकता। महावीर ने यहाँ गांगेय अनगार के समक्ष पार्श्वनाथ की ही मान्यता को स्पष्ट करते हुए यह बताया कि अर्हत् पार्श्व ने लोक को शाश्वत कहा है, इसमें न तो सर्वथा असत् की ही उत्पत्ति होती है और न सत् का सर्वथा नाश ही होता है। अतः अपने औदायिक एवं पारिणामिक भावों के कारण सत् ही उत्पन्न होता है और नष्ट होता है।[81] ऋषिभाषित के अनुसार भी पार्श्व के दर्शन में लोक को अनादि, अनिधन मानने के साथ-साथ उसे पारिणामिक या परिवर्तनशील भी माना गया है। यहाँ हम देखते हैं कि जैन दर्शन की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत् की जो अवधारणा है उसका मूल पार्श्वनाथ की विचारधारा में स्पष्ट रूप से उपस्थित है। गांगेय और महावीर की इस चर्चा में यह प्रश्न भी उठाया गया है कि प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही चारों गतियों में उत्पन्न होते हैं और वहाँ से निकलते हैं या इनका प्रेरक अन्य कोई है? प्रत्युत्तर में महावीर कहते हैं कि जीव अपने ही शुभाशुभ कर्मों से चारों गतियों में उत्पन्न होते हैं उनका प्रेरक अन्य कोई नहीं है। गांगेय का महावीर के इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर उन्हें सर्वज्ञ मानना इस तथ्य का सूचक है कि पार्श्वापत्यों की भी यही मान्यता थी। ऋषिभाषित में भी कर्मसिद्धान्त की अवधारणा के साथ यह कहा गया है कि प्राणी स्वकृत सुख-दुःख का वेदन करता है परकृत का नहीं।[82] इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्श्व के दर्शन में जैन कर्म सिद्धान्त की मूलभूत अवधारणा स्पष्ट रूप से उपस्थित थी।

भगवती सूत्र में अन्यत्र 'कालाश्यवैशिक पुत्र' नामक पार्श्वापत्य की भगवान् महावीर के कुछ स्थविर श्रमणों के साथ हुई चर्चा का भी

उल्लेख मिलता है। इस चर्चा में मुख्य रूप से सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक और व्युत्सर्ग के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। मात्र यही नहीं, यहां यह भी बताया गया है कि आत्मा ही सामायिक है, संयम है, संवर है, विवेक है, इत्यादि। क्योंकि ये सभी आत्मापूर्वक होते हैं। यहाँ यह भी प्रश्न उपस्थित किया गया कि आत्मा ही सामायिक है तो फिर कषाय आदि भी आत्मा ही होंगे और फिर कषायों की निन्दा क्यों की जाती है। पुनः यह प्रश्न भी उठाया गया कि निन्दा संयम है या अनिन्दा। इसके स्पष्टीकरण में महावीर के स्थविरों ने कहा कि परनिन्दा असंयम है और आत्मनिन्दा संयम है।[83]

इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग में भगवती में महावीर के श्रमणोपासकों और पार्श्वापत्य श्रमणों के बीच हुई वार्ता का भी उल्लेख मिलता है। इसमें महावीर के श्रमणोपासक संयम और तप के फल के विषय में प्रश्न करते हैं। पार्श्वापत्य स्थविर इसके उत्तर में कहते हैं कि संयम का फल अनाश्रव है और तप का फल निर्जरा है। पार्श्वापत्य श्रमणों के इस उत्तर पर महावीर के श्रमणोपासक फिर प्रश्न करते हैं कि यदि संयम का फल अनास्रव तथा तप का फल निर्जरा है तो जीव-देवलोक में किस कारण से उत्पन्न होते हैं? इस सम्बन्ध में पार्श्वापत्य श्रमण विभिन्न रूपों में उत्तर देते हैं। कालीयपुत्र स्थविर कहते हैं कि प्राथमिक तप से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं। मेहिल स्थविर कहते हैं कि प्राथमिक संयम से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं। आनन्द रक्षित स्थविर कहते हैं कि कार्मिकता अर्थात् सराग संयम और तप के कारण जो कर्मबन्ध होता है उसके निमित्त से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं। काश्यप स्थविर कहते हैं कि सांगिकता (आसक्ति) से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं।[84]

इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्श्वापत्य परम्परा में तप, संयम, आस्रव, अनास्रव, निर्जरा आदि की अवधारणायें न केवल व्यवस्थित रूप से उपस्थित थीं, अपितु उन पर गम्भीरता पूर्वक चिन्तन भी किया जाता था।

उत्तराध्ययन सूत्र में महावीर और पार्श्वनाथ की परम्परा के मूलभूत अन्तर चातुर्याम और पंचयाम के तथा सचेल और अचेल के

प्रश्नों को लेकर विस्तृत चर्चा है।[85] श्रमण केशी और गौतम के बीच हुई इस चर्चा से इतना तो स्पष्ट रूप से फलित होता है कि पार्श्व चातुर्याम धर्म के साथ-साथ सचेल धर्म का प्रतिपादन करते थे। चातुर्याम तथा पंचयाम तथा सचेल और अचेल के विवाद के अतिरिक्त केशी और गौतम के बीच हुई इस संवाद में अनेक आध्यात्मिक प्रश्नों की भी चर्चा की गयी थी जिसमें मुख्य रूप से ५ इन्द्रियों, ४ कषायों, मन और आत्मा का संयमन तथा तृष्णा का उच्छेद किस प्रकार संभव है यह समस्या उठायी गयी थी।[86] श्रमण केशी के द्वारा उठाये गये ये प्रश्न इस बात को सूचित करते हैं कि पार्श्व की परम्परा में भी आत्मा, मन और इन्द्रियों के संयम तथा तृष्णा और कषायों के उन्मूलन पर गम्भीर रूप से चिन्तन होता था। इन सब सूचनाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत् का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होना, पंचास्तिकाय की अवधारणा, अष्ट प्रकार की कर्म ग्रन्थियाँ, शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ विपाक, कर्म-विपाक के कारण चारों गतियों में परिभ्रमण तथा सामायिक, संवर, प्रत्याख्यान, निर्जरा, व्युत्सर्ग आदि सम्बन्धी अवधारणायें पार्श्वापत्य परम्परा में स्पष्ट रूप से उपस्थित थी और उन पर विस्तार से तथा गम्भीरता पूर्वक चर्चा होती थी। महावीर की परम्परा में ये सभी तत्त्व पार्श्वापत्य परम्परा से गृहीत होकर विकसित हुए हैं।

महावीर और पार्श्व की परम्परा का अन्तर

यद्यपि आज हम पार्श्व और महावीर दोनों को एक ही धर्म परम्परा का मानते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि पार्श्व और महावीर की धार्मिक आचार परम्पराओं में पर्याप्त अन्तर था। साथ ही यह भी सत्य है कि एक ओर महावीर की परम्परा ने पार्श्व की परम्परा से आचार और दर्शन दोनों ही क्षेत्रों में काफी कुछ ग्रहण किया तो दूसरी ओर उसने पार्श्व की परम्परा के अनेक आचार नियमों को परिवर्तित भी किया है। उपलब्ध आगम साहित्य के आधार पर यह ज्ञात होता है कि महावीर ने पार्श्व की परम्परा में निम्न संशोधन किये थे।

सचेल-अचेल का प्रश्न—जहाँ पार्श्व सचेल परंपरा के पोषक

हैं वहाँ महावीर अचेल परंपरा के पोषक हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के केशी गौतम संवाद में महावीर को अचेल धर्म का और पार्श्व को सचेल धर्म का प्रतिपादक कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि पार्श्व अपने श्रमणों को अन्तर-वासक और उत्तरीय रखने की अनुमति देते थे। उत्तराध्ययन सूत्र में पार्श्व की वस्त्र-व्यवस्था के सन्दर्भ में 'सन्तरूत्तरो' शब्द आया है। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने इसका अर्थ विशिष्ट मूल्यवान् और बहुरंगी वस्त्र किया है,[87] किन्तु यह बात उन शब्दों के मूल अर्थ से संगति नहीं रखती। यदि हम इन शब्दों के मूल अर्थों को देखें तो इनका अर्थ किसी भी स्थिति में रङ्गीन बहुमूल्य वस्त्र नहीं होता है। इनका स्पष्ट अर्थ है—अन्तरवासक और उत्तरीय। इससे ऐसा प्रतिफलित होता है कि पार्श्व की परम्परा के साधु एक अन्तर-वासक और एक उत्तरीय अथवा ओढ़ने का वस्त्र रखते थे। पालि त्रिपिटक साहित्य में निर्ग्रन्थों को एक शाटक कहा गया है।[88] उत्तराध्ययन में महावीर की परम्परा को अचेल कहा गया है। अतः इन एक शाटक निर्ग्रन्थों को महावीर की परम्परा का मानना उचित नहीं लगता है। पालि त्रिपिटक एक शाटक निर्ग्रन्थों के चातुर्याम संवर से युक्त होने की बात भी कहता है अतः एक शाटक निर्ग्रन्थों को पार्श्व की परंपरा से जोड़ना अधिक युक्ति संगत लगता है यद्यपि त्रिपिटक में चातुर्याम का उल्लेख 'निगण्ठ-नातपुत्त' अर्थात् महावीर से संबंधित है, किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि त्रिपिटककार महावीर और पार्श्व की परम्परा के अन्तर के संबन्ध में स्पष्ट नहीं थे। यदि हम इन निर्ग्रन्थों को पार्श्व की परम्परा का अनुयायी मानें तो ऐसा लगता है कि वे एक वस्त्र रखते थे। यहाँ यह समस्या उत्पन्न हो सकती है कि या तो त्रिपिटक में उल्लिखित निर्ग्रन्थ पार्श्व की परंपरा के नहीं थे और यदि वे पार्श्व की परम्परा के थे, तो त्रिपिटक के एक शाटक के उल्लेख में और उत्तराध्ययन के सन्तरूत्तर के उल्लेख में संगति कैसे बैठायी जायेगी ? मेरी दृष्टि में सामान्यतया पार्श्वापत्य श्रमण धारण तो एक ही वस्त्र करते थे, किन्तु वे एक वस्त्र ओढने के लिए अपने पास रखते होंगे जिसका उपयोग सर्दी में करते होंगे। आचारांग में महावीर को और समवायांग में सभी जिनों को एक वस्त्र लेकर दीक्षित होने का जो संकेत है वह संभवतः पार्श्वनाथ

की परम्परा से संबंधित है।[89] जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा में जो वस्त्रपात्र का विकास हुआ है वह मूलतः पार्श्वापत्य श्रमणों के महावीर के संघ में मिलने के कारण ही हुआ होगा।

यह स्पष्ट है कि महावीर की पूर्ववर्ती परम्पराओं में जहाँ पार्श्व की निर्ग्रन्थ परंपरा एक वस्त्र या दो वस्त्रों का विधान करती है वहाँ आजीवकों की परंपरा, जिसमें महावीर के समकालीन मंखलिपुत्र गोशाल थे, अचेलता (नग्नता) का प्रतिपादन कर रही थी। मुझे ऐसा लगता है कि महावीर ने सर्वप्रथम तो पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुसार एक वस्त्र लेकर दीक्षा ग्रहण की होगी, जिसकी पुष्टि आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध से होती है, किन्तु एक ओर पार्श्वापत्यों की आचार संबंधी शिथिलताओं या सुविधावाद को तथा दूसरी ओर आजीवक श्रमणों की कठोर तप साधना को देखकर वस्त्र त्यागकर आगे उन्होंने अचेल परम्परा का प्रतिपादन किया। फिर भी पार्श्वापत्य परम्परा के साथ उनका वंशानुगत सम्बन्ध तो था ही, अतः वे पार्श्वापत्य परम्परा से अधिक दूर नहीं रह सके। अनेक पार्श्वापत्यों का उनकी परम्परा में सम्मिलित होना यही सूचित करता है कि महावीर और पार्श्व की परम्परा में प्रारम्भ में जो कुछ दूरी निर्मित हो गयी थी वह बाद में पुनः समाप्त हो गयी और संभव है कि महावीर ने कठोर आचार का समर्थन करते हुए भी अचेलता के प्रति अधिक आग्रह नहीं रखा हो। आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध में ही एक, दो और तीन वस्त्रों की अनुमति सचेल परम्परा के प्रति उनकी उदारता का सबसे बड़ा प्रमाण है।[91]

चातुर्याम और पंचमहाव्रत का विवाद—महावीर और पार्श्व की परम्परा का दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर चातुर्याम धर्म और पंचमहाव्रत धर्म का है। ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, समवायांग और परवर्ती निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि आदि में पार्श्व को चातुर्याम धर्म का प्रतिपादक कहा गया है।[92] जबकि महावीर को पंचमहाव्रतों का प्रतिपादक कहा है—समवायांग में पार्श्व के निम्न चातुर्यामों का उल्लेख—सर्वप्राणातिपात विरमण, सर्वमृषावादविरमण, सर्वअदत्तादान विरमण और सर्वबहिर्धादान विरमण। सभी टीकाकारों ने बहिर्धादान का तात्पर्य परिग्रह के त्याग से लिया है। इस विवरण से यह फलित होता है कि पार्श्व की परंपरा में ब्रह्मचर्य का स्वतन्त्र स्थान नहीं था, यद्यपि

सभी विचारक यह मानते हैं कि परिग्रह के त्याग में ही ब्रह्मचर्य निहित था। क्योंकि बिना ग्रहण किये स्त्री का भोग संभव नहीं था। यद्यपि इस कथन में कुछ सत्यता है, क्योंकि प्राचीन काल में स्त्री को सम्पत्ति माना जाता था और सम्पत्ति के त्याग में स्त्री का त्याग भी हो जाता था। अतः पार्श्व ने स्वतन्त्र रूप से ब्रह्मचर्यव्रत की व्यवस्था करना आवश्यक नहीं समझी, किन्तु सूत्रकृतांग में उपलब्ध सूचना से ज्ञात होता है कि कुछ पार्श्वापत्य परिग्रह के अन्तर्गत स्त्री के त्याग का एक गलत अर्थ लगाने लगे थे। वे यह मानने लगे थे कि यद्यपि स्त्री को रखने का निषेध किया गया है किन्तु उसके भोग का निषेध नहीं किया गया है। अतः कुछ पार्श्वापत्य श्रमण (पासत्थ) यहाँ तक मानने लगे थे कि यदि कोई स्त्री स्वेच्छा से अपनी कामवासना की पूर्ति के लिये श्रमण से निवेदन करती है तो उसकी वासना पूर्ति कर देने में ठीक उसी प्रकार कोई दोष नहीं है, जिस प्रकार किसी के पके हुए फोड़े को चीरकर उसका मवाद निकाल देने में कोई दोष नहीं है।[93] यद्यपि यहां 'पासत्थ' का अर्थ पार्श्व के अनुयायी न होकर पाश में स्थित अर्थात् शिथिलाचारी भी हो सकता है। फिर भी महावीर को ब्रह्मचर्य का स्वतन्त्र रूप में विधान करने के पीछे ऐसे ही कारण रहे होंगे। सूत्रकृतांग में महावीर की स्तुति के प्रसंग में 'से वारिया इत्थि सराइभत्तं' का उल्लेख हुआ है।[94] इसका तात्पर्य यह है कि महावीर ने स्त्री और रात्रि-भोजन का वारण किया अर्थात् त्याग किया। किन्तु इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि उन्होंने स्त्री और रात्रि-भोजन से लोगों को विरत किया, और यदि हम इसका यह अर्थ लेते हैं तो ऐसा लगता है कि महावीर ने स्पष्ट रूप से स्त्री के भोग का निषेध किया था, जो पूर्व परंपरा में स्पष्ट रूप से निषेधित नहीं था।

रात्रि भोजन का निषेध—यह भी माना जाता है कि महावीर ने रात्रि-भोजन का पृथक्‌रूप से निषेध किया। दशवैकालिक में रात्रि-भोजन को भी पंच महाव्रतों के समान ही महत्व देकर एक छठे व्रत के रूप में स्थापित किया गया है।[95] पार्श्व की परंपरा में रात्रि भोजन प्रचलित था या नहीं इस संबंध में हमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः मात्र हम यही कह सकते हैं कि महावीर ने रात्रि

भोजन का भी स्पष्ट रूप से निषेध किया, हो सकता है कि पार्श्व की परंपरा में इस सम्बन्ध में स्पष्ट निषेध नहीं रहा हो।

सप्रतिक्रमण धर्म—महावीर और पार्श्व की परंपरा का मुख्य अन्तर जो कि प्राचीन आगम साहित्य में उपलब्ध है, वह यह है कि पार्श्व की परंपरा में प्रातः काल और सायं काल प्रतिक्रमण करना अनिवार्य नहीं था। महावीर ने अपने संघ में यह व्यवस्था की थी कि प्रत्येक साधु को, चाहे उसने किसी दोष का सेवन किया हो या न किया हो, प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिक्रमण करना ही चाहिये। जबकि पार्श्व की परंपरा के संबंध में हमें केवल इतनी ही जानकारी मिलती है कि पार्श्वापत्य श्रमण यदि किसी दोष का सेवन होता था तभी प्रतिक्रमण या प्रायश्चित्त करते थे। इसका तात्पर्य यही है कि यद्यपि दोषों के सेवन से होने वाले पाप के प्रायश्चित्त के लिये प्रतिक्रमण करना तो दोनों को ही मान्य था किन्तु महावीर साधक को अधिक सजग रहने के लिए इस बात पर अधिक बल देते थे प्रत्येक साधक को प्रातःकाल और सायंकाल अपने दिन या रात्रि के क्रिया-कलापों पर चिन्तन करे और यह देखें कि उसके द्वारा किसी दोष का सेवन हुआ है या नहीं। अतः प्रतिक्रमण की अनिवार्यता पार्श्व की परंपरा में महावीर का एक संशोधन था। सूत्रकृतांग और भगवती में महावीर के धर्म को सप्रतिक्रमण धर्म कहा गया है।[96]

सामायिक और छेदोपस्थापनीय चरित्र का प्रश्न—पार्श्व और महावीर की परंपरा में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी था कि महावीर की परंपरा में सामायिक चारित्र के पश्चात् साधक को योग्य पाये जाने पर ही छेदोपस्थापनीयचारित्र दिया जाता था।[97] सामायिक चारित्र में साधक समभाव की साधना के साथ-साथ सावद्य योग अर्थात् पाप-कारी प्रवृत्तियों का त्याग करता था। जबकि छेदोपस्थापनीय चारित्र में वह महाव्रतों को ग्रहण करता था और संघ में उसकी वरीयता निश्चित कर दी जाती थी, किन्तु यदि वह अपने व्रत को भंग करता या किसी दोष का कोई सेवन करता तो उसकी इस वरीयता को कम (छेद) भी किया जा सकता था। मुझे ऐसा लगता है कि महावीर ने

अपनी व्रत व्यवस्था में ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता पर और सम्पूर्ण परिग्रह के त्याग के रूप में वस्त्र त्याग पर भी जो बल दिया था उसके कारण यह आवश्यक हो गया था कि साधक की योग्यताओं को परखने के पश्चात् ही उसे स्थायी रूप से संघ में स्थान दिया जाये। क्योंकि नग्न रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना साधना के क्षेत्र में परिपक्वता आये बिना संभव नहीं था। अतः साधना के क्षेत्र में दो प्रकार के श्रमणों की व्यवस्था की गयी थी एक सामायिक चारित्र से युक्त और दूसरे उपस्थापनीय चारित्र से युक्त। महावीर की समकालीन बौद्ध परंपरा में भी प्रव्रज्या और उपसम्पदा को अलग-अलग किया गया था। प्रथमतः साधक को कुछ समय परीक्षण के तौर पर संघ में रखा जाता था, फिर उसे योग्य सिद्ध होने पर अन्तिम रूप से दीक्षित किया जाता था। इस प्रकार महावीर ने छेदोपस्थापनीय चारित्र की व्यवस्था करके पार्श्व की परंपरा में एक संशोधन कर दिया था।

अन्य अन्तर

पार्श्व और महावीर की परंपराओं के अन्य प्रमुख अन्तरों में औद्देशिक, राजपिण्ड, मासकल्प और पर्युषण संबंधी अन्तर भी माने गये हैं। जैन परंपरा में जिन १० कल्पों की अवधारणा है उन कल्पों में निम्न ६ कल्प अनवस्थित माने गये हैं। अनवस्थित का तात्पर्य यह है कि सभी तीर्थंकरों की आचार व्यवस्था में उन्हें स्थान नहीं दिया जाता है। ये अनवस्थित कल्प निम्न हैं—(१) अचेलता, (२) प्रतिक्रमण, (३) औद्देशिक, (४) राजपिण्ड, (५) मासकल्प और (६) पर्युषण।[98]

इनमें से अचेलता और प्रतिक्रमण की चर्चा पूर्व में कर चुके हैं। अवशिष्ट औद्देशिक, राजपिण्ड, मासकल्प और पर्युषण की चर्चा आगे करेंगे।

औद्देशिक—पार्श्व की परंपरा में श्रमण के लिए बनाये गये आहार का ग्रहण करना वर्जित नहीं था, जबकि महावीर ने श्रमणों के लिए बनाये गये आहार को ग्रहण करना निषिद्ध ठहराया। इस प्रकार औद्देशिक अर्थात् श्रमण के निमित्त बने भोजन को ग्रहण किया जाये या न किया जाये इस संबंध में पार्श्व और महावीर की परंपरायें भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखती थी।

राजपिण्ड—पार्श्व की परंपरा के श्रमण राजा के यहाँ का अथवा राजा के लिए बना हुआ भोजन ग्रहण कर लेते थे, जबकि महावीर ने अपने श्रमणों के लिए राजपिण्ड का ग्रहण करना निषिद्ध कर दिया।

मासकल्प—पार्श्व की परंपरा के श्रमणों के लिए यह नियम नहीं था कि वे चातुर्मास के अतिरिक्त किसी एक स्थान पर एक मास से अधिक न ठहरें अर्थात् वे अपनी इच्छा के अनुरूप किसी स्थान पर एक मास से अधिक ठहर सकते थे, जबकि महावीर ने अपने श्रमणों के लिए चातुर्मास के पश्चात् किसी स्थान पर एक मास से अधिक ठहरना निषिद्ध कर दिया था।

पर्युषण—पर्युषण का अर्थ वर्षाकाल में एक स्थान पर रहना है। पार्श्व की परंपरा में श्रमणों के लिए वर्षाकाल में एक स्थान पर रहना भी आवश्यक नहीं था। वे इस बात के लिए बाध्य नहीं थे कि वर्षाकाल में चार मास तक एक ही स्थान पर रहें। जबकि महावीर ने अपने श्रमणों को आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक एक ही स्थान पर रहने के स्पष्ट निर्देश दिये थे।

पार्श्व और महावीर की परम्परा के उपर्युक्त सामान्य अन्तरों के अतिरिक्त मुनियों के आचार सम्बन्धी नियमों को लेकर ही और भी अनेक अन्तर देखे जाते हैं। भगवतीसूत्र के अनुसार कालस्यवैशिक-पुत्र नामक पार्श्वापत्य अनगार ने महावीर के संघ में प्रविष्ट हो निम्न विशेष साधना की थी। उन्होंने पंच महाव्रत और सप्रतिक्रमण धर्म को स्वीकार करने के साथ-साथ नग्नता, मुण्डितता, अस्नान, अदन्तधावन, छत्ररहित होना, उपानह (जूते) रहित होना, भूमिशयन, फलकशयन, काष्ठशयन, केशलोच, ब्रह्मचर्य परगृहप्रवेश अर्थात् भिक्षार्थ लोगों के घरों में जाना, को भी स्वीकार किया था। साथ ही लब्ध-अलब्ध, ऊँच-नीच, ग्राम कण्टक एवं बाइस परीषहों को भी सहन किया था—

तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जिता णं विहरति।

तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामण्ण-परियागं पाउणइ, पाउणित्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणयं अदंतवणयं अच्छत्तयं अणोवाहणयं भूमिसेज्जा फलसेज्जा

कट्ठसेज्जा केसलोओ वंभचेरवासो परघरप्पवेसो लद्धावलद्धी उच्चावया गामकंटगा बावीसं परिसहोवसग्गा अहियासिज्जंति। (भगवती १।९।४३२-३३)

उपर्युक्त विवरण से यह फलित होता है कि पार्श्व की परम्परा के भिक्षुओं में वस्त्र पहनने के साथ-साथ स्नान करना, दन्तधावन करना, छाता रखना, जूता पहनना और कोमल शय्या पर शयन करना आदि प्रचलित था, क्योंकि कालस्यवेशिकपुत्र को महावीर की परम्परा में दीक्षित होने पर इन सबका त्याग करना पड़ा था। इसी प्रकार केशलोच, और ब्रह्मचर्य भी महावीर के परम्परा की विशिष्टता थी, क्योंकि कालस्यवेशिकपुत्र ने केशलोच और ब्रह्मचर्य को भी स्वीकार किया था। सम्भावना यह लगती है कि पार्श्व की परम्परा के मुनि अन्य परम्पराओं के श्रमणों की तरह शिर मुण्डन करवाते होंगे। मेरी दृष्टि में केशलोच आजीवकों और महावीर की परम्परा की ही विशिष्टता थी। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में महावीर की परम्परा में जो विशिष्टता थी, उसकी चर्चा हम पूर्व में कर ही चुके हैं। इसी प्रसंग में पर-गृह प्रवेश, प्राप्ति-अप्राप्ति, ऊँच-नीच और ग्रामकण्टक की भी चर्चा है, हमें इनके अर्थ समझने होंगे। परगृह प्रवेश की साधना का तात्पर्य मेरी दृष्टि में भिक्षा के लिये गृहस्थों के घरों पर जाना है। जैसी कि हमने पूर्व में चर्चा की है, पार्श्व की परम्परा में निमंत्रित भोजन स्वीकार करते थे, अतः उन्हें भिक्षार्थ घर-घर भटकना नहीं पड़ता था, न उन्हें भिक्षा के प्राप्ति-अप्राप्ति की कोई चिन्ता होती थी, क्योंकि जब निमंत्रित भोजन ग्रहण करना है तो अलाभ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। इसी प्रकार उच्चावया का अर्थ ऊँच-नीच होना चाहिए। वस्तुतः जब निमंत्रित भिक्षा स्वीकार की जायेगी तो सामान्यतया जो सम्पन्न परिवार हैं उन्हीं के यहाँ का निमंत्रण मिलेगा इसलिये निमंत्रित भोजन स्वीकार करने वाली परम्परा को धनी-निर्धन अथवा ऊँच-नीच कुलों में भिक्षा के लिये जाना नहीं होता। महावीर की परंपरा में चूँकि अद्देशिक भिक्षा का नियम था, अतः उनके श्रमणों को सभी प्रकार के कुलों अर्थात् धनी-निर्धन या उच्च-निम्न कुलों से भिक्षा लेनी होती थी।

ग्रामकण्टक का अर्थ टीकाकारों ने कठोर शब्द सहन करना, ऐसा

किया है। भिक्षोपजीवी भिक्षु के लिये भिक्षा माँगते समय अनेक बार कठोर वचन सुनने को मिल सकते थे। आगम-साहित्य में ग्राम धर्म शब्द मैथुन के अर्थ में भी आया है। चूँकि महावीर की परम्परा में भिक्षु को नग्न रहना होता था, इसलिये उसे अपनी कामवासना सम्बन्धी इच्छाओं पर नियंत्रण रखना होता था। साथ ही उनके नग्न रूप-सौन्दर्य से आकर्षित होकर स्त्रियां उनसे विषय सेवन की प्रार्थना करती रही होंगी अतः उन्हें अपनी ब्रह्मचर्य साधना के लिये इन सारी स्थितियों को सहन करना होता था। आचाराङ्ग को देखने से ज्ञात होता है कि इस प्रकार की घटनाएँ स्वयं महावीर के साथ भी घटित हुई थी। इन चर्चाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नग्नता, अस्नान, अदन्त धावन, छाता नहीं रखना, जूते नहीं पहनना, भूमि पर शयन करना, केशलोच, निमन्त्रित भोजन स्वीकार नही करके भिक्षावृत्ति करना और ब्रह्मचर्य की कठोर साधना करना ऐसी विशेषतायें थी जो महावीर की परम्परा में प्रचलित थी, जबकि पार्श्व की परम्परा के भिक्षुओं में इन सबका स्पष्ट निषेध नहीं था।

छेदसूत्रों में मुनि आचार में छाता, जूते, क्षुर-मुण्डन का जो उल्लेख है वह इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि पार्श्वापत्यों में ये सब बातें प्रचलित थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्श्व और महावीर की परंपरायें आचार व्यवस्थाओं को लेकर अनेक बातों में भिन्न थीं। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि महावीर ने पार्श्व की आचार व्यवस्था के सन्दर्भ में अनेक संशोधन कर दिये थे।

पार्श्वापत्य और पार्श्वस्थ

पार्श्वनाथ की परम्परा के सम्बन्ध में प्राचीन और प्रामाणिक जानकारी हमें अर्धमागधी आगम साहित्य के अतिरिक्त अन्य किन्हीं स्रोतों से प्राप्त नहीं होती है। पालि त्रिपिटक साहित्य में सच्चक, वप्प आदि कुछ व्यक्तियों का परिचय उपलब्ध होता है किन्तु वहाँ उन्हें पार्श्व के उपासक के रूप में चित्रित नहीं किया गया है, अपितु निर्ग्रन्थों के अनुयायी के रूप में चित्रित किया गया है। पार्श्वापत्यीय

श्रमण भी निर्ग्रन्थ कहलाते थे, मात्र इसी आधार पर हम उन्हें पार्श्वनाथ की परम्परा का मान सकते हैं। पार्श्व के अनुयायियों के लिए आगम साहित्य में हमें 'पासावच्चिज्ज' (पार्श्वापत्यीय) और पासत्थ (पार्श्वस्थ) इन दो शब्दों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि दोनों ही शब्दों का अर्थ पार्श्व के अनुयायी हो सकता है, किन्तु हम यह देखते हैं कि जहाँ पार्श्व के अनुयायियों को सम्मानजनक रूप में प्रस्तुत करने का प्रश्न आया, वहाँ 'पासावच्चिज्ज' शब्द का प्रयोग हुआ[99] और जहाँ उन्हें हीन रूप में प्रस्तुत करने का प्रसङ्ग आया है वहां उनके लिये 'पासत्थ' शब्द का प्रयोग हुआ है[100] 'पासत्थ' शब्द का संस्कृत रूप पार्श्वस्थ होता है जिसका सामान्य अर्थ 'पार्श्व के संघ में स्थित' ऐसा हम कर सकते हैं किन्तु जैन परंपरा में आगमिक काल से ही पार्श्वस्थ (पासत्थ) शब्द शिथिलाचारी साधुओं के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। सूत्रकृतांग में 'पासत्थ' शब्द शिथिलाचारी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[101] आज जैन श्रमण के लिये सबसे अपमानजनक शब्द यदि कोई है तो वह उसे 'पासत्था' कहना है। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से प्राकृत पासत्थ का संस्कृत रूप 'पाशस्थ' अर्थात् पाश में बंधा हुआ मानकर हम उसका अर्थ शिथिलाचारी या दुराचारी भी कर सकते हैं।[102] किन्तु उसका संस्कृत रूप 'पार्श्वस्थ' मानने पर उसका स्पष्ट अर्थ दुराचारी य शिथिलाचारी श्रमण ऐसा नहीं होता है। पार्श्वस्थ शब्द का तात्पर्य मात्र पार्श्व या बगल में स्थित होता है।[103] यद्यपि 'पार्श्व में स्थित' होने का अर्थ कुछ हटकर भी हो सकता है। इसी आधार पर सामान्यतया पार्श्वस्थ का अर्थ सुविधावादी या शिथिलाचारी किया जाने लगा होगा।

उपलब्ध आगमिक आधारों से यह एक सुनिश्चित सत्य प्रतीत होता है कि पार्श्व की परंपरा के श्रमण महावीर के युग में अपने आचार नियमों में पर्याप्त रूप से सुविधाभोगी थे। अतः कठोर आचार मार्ग का पालन करने वाले महावीर के श्रमणों को वे शिथिलाचारी लगते होंगे और इसीलिये पार्श्वस्थ शब्द अपने मूल अर्थ को छोड़कर शिथिलाचारी श्रमण के लिए प्रयुक्त होने लगा।

चारित्रसार में कहा गया है कि जो मुनि वस्तिकाओं में रहते हैं, उपकरणों को ग्रहण करते हैं और मुनियों के समीप रहते हैं उन्हें

पार्श्वस्थ कहते हैं।[104] इस व्याख्या से यह तो स्पष्ट होता है कि जो श्रमणों के निकट रहते हैं वे पार्श्वस्थ हैं। साथ ही यह भी कि पार्श्वस्थों का आचार अन्य श्रमणों की अपेक्षा निम्न होता था। भगवती-आराधना और मूलाचार में पार्श्वस्थ को शिथिलाचारी मुनि के रूप में ही ग्रहण किया गया है। भगवतीआराधना में कहा गया है कि कुछ मुनि जब इन्द्रियरूपी चोरों से और कषायरूपी हिंसकों से तथा आत्मा के गुणों का घात करने वालों से पकड़े जाते हैं तो वे साधु का पद त्यागकर पार्श्वस्थों के पास चले जाते हैं। भगवतीआराधना और उसकी विजयोदया टीका में कहा गया है कि 'अतिचार रहित संयम का स्वरूप जानकर भी जो उसमें प्रवृत्ति नहीं करता है' किन्तु संयम मार्ग के समीप ही रहता है यद्यपि वह एकांत से असंयमी नहीं है परन्तु निरतिचार संयम का पालन भी नहीं करता है इसलिए उसे पार्श्वस्थ कहते हैं? पुनः जो उत्पादन और एषणा दोष सहित आहार का ग्रहण करते हैं, एक ही वस्तिका में रहते हैं, एक ही संस्तर में सोते हैं, एक ही क्षेत्र में निवास करते हैं, गृहस्थों के घर अपनी बैठक लगाते हैं, सूई-कैंची आदि वस्तुओं को ग्रहण करते हैं तथा सीना, धोना, रंगना आदि कार्यों में तत्पर रहते हैं ऐसे मुनियों को पार्श्वस्थ कहते हैं। पुनः जो अपने पास क्षार-चूर्ण, सोहाग-चूर्ण, नमक, घी वगैरह पदार्थ कारण न होने पर भी रखते हैं उन्हें पार्श्वस्थ कहा जाता है।[105] भगवतीआराधना टीका की यह व्याख्या इस बात को ही स्पष्ट करती है मुनि आचार नियमों में ही जो शिथिल होते हैं वे पार्श्वस्थ कहे जाते हैं। यह स्पष्ट है कि पार्श्व की परंपरा के मुनि यह सब कार्य करते थे और महावीर के अनुयायी इन कार्यों को श्रमणआचार के अनुरूप नहीं मानते थे। इसी कारण आगे चल कर शिथिलाचारी मुनियों के अर्थ में ही पार्श्वस्थ शब्द का प्रयोग होने लगा।

किन्तु हमें यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि अर्धमागधी आगम साहित्य में जहाँ स्पष्ट रूप से पार्श्व की परंपरा के श्रमणों का निर्देश है वहाँ उन्हें 'पासत्थ (पार्श्वस्थ) नहीं कह कर पासावच्चिज्ज (पार्श्वापत्यीय) ही कहा गया है। जबकि जहाँ शिथिलाचारी श्रमणों का उल्लेख है वहां सदैव पासत्थ शब्द का प्रयोग है। यद्यपि पुलाक,

बकुश, कुशील आदि पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों की चर्चा में पार्श्वस्थ का उल्लेख नहीं है,[106] किन्तु सूत्रकृतांग, भगवती एवं ज्ञाताधर्म-कथा में पार्श्वस्थ, कुशील और स्वच्छन्द को पर्यायवाची बताया गया है।[107] अतः स्वाभाविक रूप से यह विचार उपस्थित होता है कि हम पार्श्वस्थ और पार्श्वापत्य के बीच जो सम्बन्ध जोड़ रहे हैं वह मात्र काल्पनिक नहीं है। जब तक इस बात का कोई ठोस प्रमाण प्राप्त न हो कि पार्श्वस्थ और पार्श्वापत्य एक ही थे, तब तक दोनों को एक मानने का अत्यधिक आग्रह तो नहीं रखा जा सकता है। फिर भी पार्श्वापत्यों के आचार सम्बन्धी शिथिल नियम हमें दोनों को एक मानने के लिए विवश करते हैं। पार्श्वापत्यों और पार्श्वस्थों को एक दूसरे से सम्बन्धित मानने का हमारे पास एक ही आधार है वह यह कि ज्ञाताधर्मकथा के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में काली आदि को एक ओर पार्श्व की शिष्यायें कहा गया है वहीं दूसरी ओर उनके शिथिलाचारी (पासत्थ) होने का भी उल्लेख है।[108]

पार्श्वापत्य श्रमण-श्रमणियां और गृहस्थ उपासक-उपासिकाएं

श्वेताम्बर आगम साहित्य में हमें पार्श्व और उनके अनुयायियों के संबंध में अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं; जो अधिकांश ऐतिहासिक हैं।

ज्ञातासूत्र में आमलकप्पा, श्रावस्ती, हस्तिनापुर, काम्पिल्य, वाराणसी, चम्पा, नागपुर, साकेत, अरक्खुरी, मथुरा आदि नगरों की अनेक स्त्रियों को पार्श्व द्वारा दीक्षित किये जाने का उल्लेख है। यद्यपि ये कथा-प्रसंग कल्पनात्मक होने से ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक नहीं हैं, क्योंकि इनमें पार्श्व के द्वारा दीक्षित इन सभी स्त्रियों का स्वर्ग की विभिन्न देवियों के रूप में उत्पन्न होकर वहाँ से महावीर के वन्दनार्थ आने के उल्लेख हैं तथा इसी सन्दर्भ में उनके पूर्व-जीवन की चर्चा की गयी है। इसके विपरीत आचारांग, सूत्रकृतांग, राजप्रश्नीय, उत्तराध्ययन आदि में पार्श्वापत्यों के संबंध में जो तथ्यपरक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं उनकी ऐतिहासिकता प्रामाणिक लगती है। आचारांग में महावीर के माता-पिता को पार्श्व की परंपरा का अनुयायी कहा गया है।[109] सूत्रकृतांग में उदकपेढाल नामक पार्श्वापत्य श्रमण का उल्लेख है।[110] उदकपेढाल संबंधी विव-

रण हमें ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक ही लगता है। उदकपेढाल का गौतम से त्रस शब्द के अर्थ और हिंसा के प्रत्याख्यान के स्वरूप के संबंध में गम्भीर चर्चा करते हैं। इससे एक ओर पार्श्वापत्यों की सैद्धान्तिक अवधारणाओं का पता चलता है तो दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि पार्श्वापत्यों और महावीर के श्रमणों के बीच अनेक दार्शनिक प्रश्नों को लेकर गम्भीर चर्चायें होती थीं।

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में गांगेय अनगार और महावीर के बीच जीवों की मनुष्य, तिर्यञ्च, नारक और देवगतियों पर तथा लोक की शाश्वता पर चर्चा होती है।[111] भगवतीसूत्र में ही कालस्यवैशिकपुत्र की महावीर के स्थविर श्रमणों से चर्चा का भी उल्लेख है।[112] उनकी चर्चा का मुख्य विषय सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर, विवेक और व्युत्सर्ग का स्वरूप है। भगवतीसूत्र में वाणिज्यग्राम में कुछ पार्श्वापत्य श्रमणों की भगवान् महावीर से चर्चा का भी उल्लेख है।[113] ये पार्श्वापत्य श्रमण महावीर से लोक के स्वरूप के संबंध में चर्चा करते हैं, और महावीर पार्श्व की मान्यताओं के आधार पर ही उन्हें लोक का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। महावीर के उत्तरों से सन्तुष्ट होकर वे महावीर का पञ्चमहाव्रतात्मक सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार भगवतीसूत्र में ही जब महावीर अपना तेईसवाँ वर्षावास, श्रावस्ती नगर में संपूर्ण कर राजगृही आये थे, उसी समय राजगृह के निकट तुंगिया नगरी में पार्श्वापत्य स्थविर पाँच सौ अनगारों के साथ निवास कर रहे थे।[114] तुंगिया के श्रमणोपासक इन स्थविरों को वन्दन करने के लिए जाते हैं और उनसे संयम और तप के फल के संबंध में चर्चा करते हैं। पार्श्वापत्य श्रमणों ने इनका जो प्रत्युत्तर दिया था, गौतम महावीर से उसकी प्रामाणिकता के संबंध में जानना चाहते हैं। इस संबंध में महावीर कहते हैं कि पार्श्वापत्य स्थविरों ने जो उत्तर दिया है वह यथार्थ और पूर्ण सत्य है।[115] इस चर्चा प्रसंग से हमें दो बातों की जानकारी मिलती है। प्रथम तो यह कि महावीर के गृहस्थ उपासक पार्श्वापत्य परंपरा के श्रमणों के यहाँ जाते थे और तत्त्व-जिज्ञासा को लेकर उनसे प्रश्नोत्तर भी करते थे। दूसरे यह कि महावीर अनेक संदर्भों में पार्श्वनाथ की तात्त्विक और दार्शनिक मान्यताओं को यथार्थ मानकर स्वीकार करते थे।

राजप्रश्नीय में श्वेताम्बिका के राजा प्रदेशी को पार्श्वापत्यीय श्रमण केशिकुमार के द्वारा उपदेश दिये जाने का भी उल्लेख है।[116] उत्तराध्ययन सूत्र में भी पार्श्वापत्यीय श्रमण केशी और महावीर के प्रधान शिष्य गौतम के बीच हुए संवाद का उल्लेख प्राप्त होता है। राजप्रश्नीय और उत्तराध्ययन के उल्लेख से ऐसा लगता है कि केशी पार्श्वापत्य परंपरा के एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। कथाओं में केशी को पार्श्व की परंपरा का चतुर्थ पट्टधर कहा गया है। पार्श्वनाथ की परंपरा में प्रथम पट्टधर शुभदत्त थे। उनके पश्चात् आचार्य हरिदत्त हुए। तीसरे पट्टधर आर्य समुद्र और चौथे पट्टधर आर्य केशी हुए।[117] यद्यपि इस में आर्य समुद्र और हरिदत्त ऐसे नाम हैं जिनकी ऐतिहासिकता विवादास्पद हो सकती है किन्तु केशी की ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में सन्देह करने का हमें कोई कारण नहीं लगता है। केशी की ज्ञान सामर्थ्य और बुद्धि गाम्भीर्य का पता राजप्रश्नीय में राजा प्रदेशी से तथा उत्तराध्ययन में गौतम से हुई विचार-चर्चा से लग जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से त्रिपिटक साहित्य का पयासी सुत्त[118] और राजप्रश्नीय के पएसी संबंधी विवरण महत्वपूर्ण रूप से तुलनीय हैं और वे उस घटना की ऐतिहासिकता को भी प्रमाणित करते हैं। यह पयासी या पएसी प्रसेनजित् ही होना चाहिए, जो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं।

यह अलग बात है कि बौद्धों ने इसे अपने ढंग से मोड़ लिया है जबकि राजप्रश्नीय में इसे यथावत् रखा गया है। ऐसा लगता है कि उस काल में यह कथाप्रसंग बहुत चर्चित रहा होगा जिसे दोनों परंपराओं ने ग्रहण कर लिया था।

बौद्ध परंपरा अनात्मवादी थी, इस कारण आत्मा की नित्यता को सिद्ध करना उनके लिए इतना अधिक महत्वपूर्ण नहीं था। यद्यपि उन्होंने अपने पुनर्जन्म की सिद्धान्त की पुष्टि के लिये अपने ढंग से इसे मोड़ने का प्रयत्न किया है। जबकि जैनों ने इसे आत्मवाद में विश्वास रखने के कारण यथावत् रखा है इससे इतना निश्चित होता है कि पार्श्वापत्यों की एक सुव्यवस्थित परंपरा महावीर और बुद्ध के काल तक चली आ रही थी।

इन उल्लेखों के अतिरिक्त आवश्यकचूर्णि में भी पार्श्वापत्य

श्रमणों के उल्लेख हमें मिलते हैं।[119] आवश्यकचूर्णि की सूचना के अनुसार गोशालक का कूपनख नामक एक कुम्भकार की शाला में पार्श्वापत्य श्रमण मुनिचन्द्र से मिलने का उल्लेख है। गोशालक उनकी आलोचना भी करता है। इसी प्रकार आवश्यकचूर्णि में ही पार्श्वापत्य श्रमण नन्दिसेन का उल्लेख मिलता है।[120] ऐसे भी पार्श्वापत्य श्रमणों के उल्लेख हैं जो श्रमणाचार से शिथिल होकर निमित्त शास्त्र आदि के द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। ऐसे निमित्तवेत्ता पार्श्वापत्यों में उत्पल का उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति एवं आवश्यकचूर्णि में हमें मिलता है।[121] आवश्यकचूर्णि के उल्लेख के अनुसार शोण कलिन्द, कर्णिकार, अछिद्र, अग्निवैशम्पायन और अर्जुन ये छह निमित्तवेत्ता पार्श्वापत्य परंपरा के ही थे।[122] अर्जुन का उल्लेख हमें भगवतीसूत्र में भी मिलता है, भगवतीसूत्र में अर्जुनगोतमीयपुत्र को तीर्थङ्कर पार्श्व का अनुयायी बताया है, जो आगे चलकर गोशालक का अनुयायी हो जाता है।[123] गोशालक द्वारा अर्जुन का शरीर ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है।[124] इससे ऐसा फलित होता है कि अर्जुन पहले पार्श्व की परम्परा का अनुयायी था बाद में आजीवक परम्परा का अनुयायी बना। आवश्यकनिर्युक्ति में सोमा, जयन्ती, विजया और प्रगल्भा नामक ऐसी चार पार्श्वापत्यीय परिव्राजिकाओं के भी उल्लेख मिलते हैं।[125] इन्होंने महावीर और गोशालक को वहाँ के राजकीय अधिकारियों के द्वारा गुप्तचर समझकर पकड़े जाने पर छुड़वाया था।

इस प्रकार हमें अर्धमागधी आगम साहित्य में अनेक पार्श्वापत्य श्रमण-श्रमणियों और श्रमणोपासकों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। जिससे यह भी ज्ञात होता है कि पार्श्वापत्य श्रमण और महावीर के श्रमण एक दूसरे से मिलते थे, तत्त्व-चर्चायें करते थे। यद्यपि अनेक प्रश्नों पर वे परस्पर सहमति रखते थे किन्तु कुछ प्रश्नों पर उनका मतवैभिन्य भी था। फिर भी कठिनाइयों में वे एक दूसरे को सहयोग देते थे।

महावीर और पार्श्व की परम्परा के पारस्परिक सम्बन्ध

सूत्रकृतांग और भगवती में उपलब्ध सन्दर्भों से हमें इस बात के स्पष्ट सङ्केत मिलते हैं कि प्रारम्भ में पार्श्वापत्यों और महावीर के

श्रमणों में विरोध था। एक ओर महावीर के अनुयायी पार्श्वापत्यों को शिथिलाचारी मानकर आलोचना करते थे तो दूसरी ओर पार्श्व के अनुयायी महावीर के तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ होने में सन्देह करते थे। यहाँ तक कि वे महावीर और उनके श्रमणों के प्रति वन्दन व्यवहार जैसे सामान्य शिष्टाचार के नियमों का पालन भी नहीं करते थे। भगवतीसूत्र के अनुसार कालस्यवेशीय, गांगेय आदि पार्श्वापत्य महावीर के पास जाते हैं किन्तु बिना वन्दन व्यवहार किये ही सीधे उनसे प्रश्न करते हैं;[126] जब उन्हें इस बात का विश्वास हो जाता है कि महावीर पार्श्व की कुछ मान्यताओं को स्वीकार करते हैं और उन्हें अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकर या जिन के रूप में स्वीकार करते हैं तो वे पंचयाम एवं सप्रतिक्रमण धर्म स्वीकार करके उन्हें वन्दन नमस्कार करते हैं और उनके संघ में सम्मिलित हो जाते हैं। इस बात के भी स्पष्ट संकेत हैं कि पार्श्व के अनुयायियों में जहां कुछ महावीर से मिलने के पश्चात् उनके संघ में सम्मिलित हो जाते हैं, वहां कुछ महावीर से मिलने के बाद भी अपनी परंपरा का त्याग नहीं करते।[127]

उत्तराध्ययन और राजप्रश्नीय में पार्श्वापत्यीय श्रमण केशी का उल्लेख हमें जहां एक ओर इस बात का सङ्केत देता है कि महावीर के समय में पार्श्वापत्यीय श्रमण लोक प्रतिष्ठित थे वहीं दूसरी ओर यह भी संकेत मिलता है कि पार्श्व की परम्परा के अनेक गृहस्थ और श्रमण महावीर की परंपरा में सम्मिलित हो रहे थे और दोनों परंपराओं के बीच एक समन्वय का सेतु भी बनाया जा रहा था। उत्तराध्ययन का केशीगौतमीय नामक तेईसवां अध्ययन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि किस प्रकार पार्श्व और महावीर के अनुयायी परस्पर मिलकर आपसी विवादों का समन्वय एवं समाधान करते थे। आवश्यकचूर्णि में उल्लेखित घटनाएं यद्यपि अनुश्रुति प्रधान हैं, फिर भी वे इस तथ्य की अवश्य सूचक हैं कि पार्श्वापत्य श्रमण और गृहस्थ उपासक महावीर और उनके श्रमणों की आपत्ति काल में सहायता करते थे और दोनों परंपराओं में संबन्ध मधुर थे।

पार्श्व की परंपरा

वर्तमान काल में सभी श्रमण-श्रमणियाँ तथा गृहस्थ उपासक या उपासिकायें अपने को तीर्थंकर महावीर की परंपरा से संबद्ध मानते हैं।

उपकेशगच्छ के अपवाद को छोड़कर आज पार्श्व की परंपरा के न तो श्रमण और श्रमणियाँ हैं और न उपासक तथा उपासिकायें। यह निर्विवाद सत्य है महावीर के पश्चात् भी पार्श्वनाथ की परम्परा का स्वतन्त्र रूप से कुछ समय तक अस्तित्व रहा हो, किन्तु हमें ऐसा कोई साहित्यिक एवं अभिलेखीय आधार प्राप्त नहीं होता है, जिसे पार्श्व की परम्परा को महावीर के पश्चात् भी स्वतन्त्र रूप से जीवित रहने के प्रमाणके रूप में प्रस्तुत किया जा सके। यद्यपि अनुश्रुति के रूप में उपकेश गच्छ को पार्श्वनाथ की परम्परा से सम्बद्ध माना जाता है। वे अपनी पट्टावली में भी अपने को सीधे पार्श्वनाथ की परम्परा से जोड़ते हैं।[128] किन्तु अनुश्रुति के अतिरिक्त इस तथ्य का कोई प्रमाण नहीं है। उनके आचार-व्यवहार में भी ऐसा कोई तथ्य नहीं है, जो कि महावीर की परम्परा से पृथक् उनकी पहचान बनाता हो। पार्श्व की स्वतन्त्र परंपरा के विलुप्त होने की दो ही स्थितियां हो सकती हैं या तो पार्श्व के सभी श्रमण-श्रमणियाँ और उपासक सामूहिक रूप से महावीर की परंपरा में सम्मिलित हो गये हो या जिन कुछ लोगों अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रखने का प्रयत्न किया हो वे इतने समर्थ न रहे हों कि अपनी परंपरा को जीवित बनाये रख सकें। फलतः धीरे-धीरे उनकी परम्परा समाप्त हो गयी।

अर्धमागधी आगम साहित्य में जिन पार्श्वापत्यों के उल्लेख हमें मिलते हैं उनमें से अधिकांश के सम्बन्ध में यही उल्लेख है कि उन्होंने पार्श्व की परम्परा को त्याग कर महावीर की परम्परा को स्वीकार कर लिया। यद्यपि कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें परम्परा-परिवर्तन के संकेत नहीं मिलते। फिर भी ऐसा लगता है कि पार्श्व के अनुयायियों का बहुसंख्यक वर्ग महावीर के अनुयायियों के द्वारा पार्श्व को अपना पूर्ववर्ती तीर्थंकर स्वीकार करने के साथ ही उनकी परंपरा में आ गया होगा। जैन धर्म में श्वेताम्बर परंपरा का जो विकास हुआ है हमारी दृष्टि में उसके पीछे मूलतः पार्श्वापत्यों का ही अधिक प्रभाव रहा हो। श्वेताम्बर आगम साहित्य में छेद-सूत्रों में जो श्रमणों के आचार संबंधी नियम हैं उनको देखने से ऐसा लगता है कि पार्श्वापत्य परंपरा के श्रमणों को अपने साथ बनाये

रखने के लिए ही इस प्रकार महावीर की कठोर आचार परंपरा को समाप्त कर दिया गया था। छेदसूत्रों में श्रमणों के आचार संबंधी नियमों में क्षुर मुण्डन, छत्रधारण, पात्र, उपानह, चमड़े की थैलिया आदि रखने के जो विधान पाये जाते हैं वे निश्चित रूप से पार्श्व की परंपरा से ही सम्बन्धित हैं।[129] क्योंकि महावीर की परंपरा में यह सब प्रचलित नहीं था। आज भी श्वेताम्बर जैन श्रमण-श्रमणियां इन सब का उपयोग नहीं करते हैं। यह एक सामयिक व्यवस्था ही रही होगी जबकि पार्श्वापत्य परम्परा के अधिकांश श्रमण महावीर की परंपरा के साथ जुड़े होंगे। मात्र यही नहीं हरमन जैकोबी ने इस बात की भी संभावना व्यक्त की है कि जैनों में जो श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों का मतभेद है, वह मूलतः पार्श्वापत्यों और महावीर के अनुयायियों का मतभेद है। उनके अपने ही शब्दों में "यद्यपि केशी और गौतम के सम्वाद में दोनों परम्पराओं के मूल मतभेद व्रतों की संख्या और वस्त्र के उपयोग-अनुपयोग पर उठाया गया था, किन्तु बिना किसी गम्भीर विवाद के मूलभूत नैतिक आदर्शों की एकरूपता द्वारा इसे सुलझा लिया गया था। यद्यपि दोनों ही परम्पराओं के अपने आग्रह थे। किन्तु दोनों में कोई विरोध नहीं था। मात्र यही नहीं पार्श्व की परम्परा के अनुयायी महावीर की व्यवस्था को स्वीकार करते थे। यद्यपि यह कल्पना की जा सकती है कि उन्होंने पञ्च महाव्रतों और सप्रतिक्रमण धर्म को स्वीकार करने के साथ ही साथ कुछ अपनी प्राचीन परम्पराओं को यथावत् बनाये रखा था, विशेष रूप से वस्त्र के उपयोग की परम्परा का; जिसका कि महावीर ने पूर्ण निषेध कर दिया था। इस स्वीकृति के साथ हम श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के विभाजन का भी एक आधार देख सकते हैं। यद्यपि दोनों ही सम्प्रदाय दूसरे की उत्पत्ति के बारे में परस्पर विरोधी कथाओं का उल्लेख करते हैं किन्तु यह एक आकस्मिक घटना नहीं है। पार्श्व और महावीर की संघ व्यवस्था का मूल विवाद ही इस विभाजन के रूप में प्रकट हुआ है।"[130] हरमन जैकोबी के उपर्युक्त कथन में बहुत कुछ सत्यता है। यदि महावीर के युग में सचेलक और अचेलक परम्परा का समन्वय सम्भव था तो आज भी इस विषय पर बहुत कुछ सोचा और किया जा सकता है। शर्त यही है कि हमारी भावनाएँ उदार हों और

सत्य को आग्रह का चश्मा उतार कर देखने का प्रयास किया जाये।

पार्श्वनाथ और बौद्ध परम्परा

देवसेन नामक दिगम्बर जैन आचार्य ने ९ वीं शताब्दी में लिखे अपने ग्रन्थ दर्शनसार में यह कल्पना की है कि बुद्ध पार्श्वनाथ की निर्ग्रन्थ परंपरा के पिहितास्रव नामक आचार्य के पास दीक्षित हुए थे। सम्भवतः देवसेन की इस कल्पना का आधार यह हो कि बौद्ध ग्रन्थ मज्झिमनिकाय के महासिंहनादसुत्त में बुद्ध के साधना काल का जो वर्णन है; उसमें बुद्ध यह कहते हैं कि मैं नग्न रहता था, केश लोचन करता था, हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था, निमन्त्रण को स्वीकार नहीं करता था, कभी एक दिन छोड़कर तो कभी दो दिन तो कभी सप्ताह और पखवाड़े में एक दिन भोजन करता था, अनेक वर्षों की धूल से मेरे शरीर पर मैल की परतें जम गई थी।...मैं बड़ी सावधानी से आता-जाता था, पानी की बूँदों के प्रति भी मेरी तीव्र दया रहती थी।[131]

बुद्ध का यह आचार निश्चित रूप से निर्ग्रन्थ परम्परा के आचार के साथ मेल खाता है। यह बात भी सत्य है कि बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व उस युग के अनेक लोकमान्य एवं प्रतिष्ठित साधकों के पास जाकर उनकी साधना पद्धतियों को सीखा था। यह अलग बात है कि वे उनमें से किसी भी साधना पद्धति से पूर्णतया सन्तुष्ट न हो सके थे और अपने नवीन मार्ग की तलाश में निकल पड़े। चूँकि उस युग में पार्श्वनाथ की परम्परा भी एक लोक-विश्रुत परम्परा थी और संभव है कि उन्होंने उस परम्परा के किसी आचार्य से भी सम्पर्क स्थापित किया हो और तदनुरूप आचरण किया हो। किन्तु जिस प्रकार बुद्ध के आलारकालाम, उदकरामपुत्त आदि के पास उनकी साधना पद्धति को सीखने का उल्लेख है वैसी सूचना निर्ग्रन्थों या पिहितास्रव के सम्बन्ध में नहीं मिलती। अतः इसे एक क्लिष्ट कल्पना कहना ही उचित होगा। यह भी सम्भव है कि यह विवरण महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा की साधना को निरर्थक बताने की दृष्टि से वाद में जोड़ा गया हो। क्योंकि पार्श्वापत्यों का आचार इतना कठोर नहीं था। यह आचार मुख्यतः आजीवको और महावीर की परम्परा से सम्बद्ध लगता है, पार्श्व की नहीं।

पार्श्वनाथ और पाइथागोरस की परम्परा

पार्श्वनाथ की परम्परा के पिहितास्रव के सम्बन्ध में एक यह भी मान्यता है कि वे ग्रीस की ओर गये थे और ग्रीस में जो पाइथागोरस का सम्प्रदाय है वह पार्श्वनाथ की परम्परा के पिहितास्रव से संबंधित है। यह भी सत्य है पाइथागोरस की मान्यताओं के संबंध में आज जो सूचनायें उपलब्ध हैं; उनसे स्पष्ट रूप से ऐसा लगता है कि वे भारतीय श्रमण परंपरा और उसमें भी निर्ग्रन्थ परम्परा के अधिक निकट है।[132] तुलनात्मक दृष्टि से हम कुछ विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। सर्वप्रथम पाइथागोरस हिंसा का उतना ही विरोधी था जितने श्रमण परम्परा के धर्म। उसके अनुयाइयों के लिए मांसाहार सर्वथा वर्जित था। इसी प्रकार पाइथागोरस आत्मालोचन की प्रक्रिया पर उतना ही बल देता था जितना कि जैन परम्परा में प्रतिक्रमण पर दिया जाता है। फिर भी पिहितास्रव और पाइथागोरस को अन्य साक्ष्यों के अभाव में मात्र विचार साम्य के आधार पर एक मान लेना उचित नहीं होगा। इस सम्बन्ध में गम्भीर शोध अपेक्षित है।

पार्श्वनाथ परम्परा की पट्टावली

वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में उपकेशगच्छ एक ऐसा गच्छ है जो अपने परम्परा को सीधे पार्श्वनाथ से जोड़ता है।[133] उसकी पट्टावली के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम पट्टधर गणधर शुभदत्त हुए। ये पार्श्वनाथ के निर्वाण के चौबीस वर्ष पश्चात् तक आचार्य पद पर रहे। आचार्य शुभदत्त के पट्टधर आर्य हरिदत्त हुए। इनका समय पार्श्व निर्वाण सम्वत् २४ से ९४ तक माना जाता है। इनके द्वारा लोहित्याचार्य को जैन धर्म में दीक्षित करने सम्बन्धी .अनुश्रुति प्रचलित है। आर्य हरिदत्त के पट्टधर आर्य समुद्र हुए। आर्य समुद्र का काल पार्श्व निर्वाण सम्वत् ९४ से १६६ तक माना जाता है। इस प्रकार ये इकहत्तर वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। इनके पश्चात् आर्य केशी श्रमण पार्श्वापत्य परम्परा के आचार्य हुए। पट्टावली के अनुसार इनका समय पार्श्व निर्वाण सम्वत् १६६ से २५० तक माना जाता है। आगम साहित्य में उपलब्ध सूचना के अनुसार आर्य केशी भगवान्

महावीर के समकालीन थे। पट्टावली में उपलब्ध इन सूचनाओं के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना अपेक्षित है। जहां तक आर्य केशी का संबंध है उनकी ऐतिहासिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि उत्तराध्ययन और राजप्रश्नीय यह दो आगम ग्रन्थ उनके अस्तित्व के संबंध में हमें स्पष्ट सूचनायें देते हैं। जहां तक आर्य शुभदत्त, आर्य हरिदत्त और आर्य समुद्र की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में थोड़े विचार की आवश्यकता अवश्य है कल्पसूत्र और समवायाङ्ग के अनुसार पार्श्व के प्रथम शिष्य आर्य दिन्न हैं। जबकि इन्हीं ग्रन्थों में पार्श्व के प्रथम गणधर को शुभ कहा गया है। यदि हम प्रथम गणधर का पूरा नाम शुभदत्त मानें तो आर्य दिन्न के साथ उसकी सङ्गति यह कह कर बैठाई जा सकती है कि संक्षेपीकरण में आर्य शुभदत्त का आर्यदत्त (अज्ज दिन्न) रह गया हो। हेमविजय गणि ने पार्श्वचरित्र में प्रथम गणधर का नाम आर्यदत्त ही सूचित किया है। अतः पार्श्व की आचार्य परम्परा में प्रथम पट्टधर के रूप में आर्य शुभदत्त को स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु आर्य शुभदत्त का जो नेतृत्वकाल २४ वर्ष माना जाता है वह विवादास्पद लगता है। इतना निश्चित है कि पार्श्व ने उन्हें अपनी तीस वर्ष की आयु में दीक्षित करके गणधर बनाया था। यदि हम गणधर बनाते समय उनकी आयु को पच्चीस वर्ष भी मानें तो पार्श्व के निर्वाण के समय उनकी आयु ९५ वर्ष से कम नहीं रही होगी। पुनः २५ वर्ष से कम आयु के व्यक्ति को गणधर जैसे महत्वपूर्ण पद पर स्थापित कर देना सम्भव नहीं लगता। सामान्य विश्वास के अनुसार भी उस समय की अधिकतम आयु १०० वर्ष मानें तो इनका आचार्य काल ५ वर्ष से अधिक नहीं होता उनकी आयु लगभग १२० वर्ष मानने पर ही उनके आचार्य काल को २४ वर्ष माना जा सकता है। जहां तक आर्य हरिदत्त और आर्य समुद्र का प्रश्न है उनकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में साक्ष्यों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना कठिन है। अतः इनकी ऐतिहासिकता सन्दिग्ध ही लगती है, पुनः इन दोनों आचार्यों का आचार्यत्व काल क्रमशः ७०, ७२ वर्ष माना गया है। यह भी विचारणीय अवश्य है। इसी प्रकार आर्य केशी के ८४ वर्ष के आचार्यत्व काल पर भी प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है।

आचार्य केशी का समय पार्श्व के निर्वाण के २५० वर्ष पश्चात् बतलाया गया है, यह भी विचारणीय है। पार्श्व और महावीर के बीच २५० वर्ष का अन्तर आगमों में उल्लिखित है किन्तु यह २५० वर्ष का अन्तर पार्श्व के निर्वाण और महावीर के जन्म के बीच माना जाये या पार्श्व के जन्म और महावीर के निर्वाण के बीच माना जाये अथवा पार्श्व के निर्वाण और महावीर के संघ संस्थापन के बीच माना जाय, यह विचारणीय है। पुनः यह अन्तर पार्श्व और महावीर दोनों के जन्म या निर्वाण के बीच भी माना जा सकता है। पार्श्व के निर्वाण और महावीर के जन्म के बीच २५० वर्ष का काल मानने पर केशी महावीर के समकालीन होना सिद्ध नहीं होते यदि हम केशी को महावीर का समकालीन मानते हैं, जो कि आगम सम्मत भी है, तो हमें पार्श्व और महावीर के बीच जो २५० वर्ष का अन्तर बताया जाता है, वह दोनों के निर्वाण के बीच मानना होगा; क्योंकि कल्पसूत्र में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद और पार्श्व के निर्वाण के १२१० वर्ष पश्चात् यह ग्रन्थ लिखा गया।[१३४] मेरी अपनी मान्यता तो यह है कि यदि पार्श्व और महावीर के बीच कुल ४ ही आचार्य हुए उनमें भी आचार्य आर्य केशी महावीर के समसामयिक हैं और आर्य शुभदत्त पार्श्व के समसामयिक हैं। अतः इन दोनों के बीच केवल दो ही आचार्य शेष रहते हैं। अतः पार्श्व के निर्वाण और महावीर के संघ स्थापना के बीच १५० वर्ष से अधिक का अन्तर नहीं रहा होगा यद्यपि इस कथन का कोई प्रामाणिक आधार नहीं है फिर भी यह कल्पना अतार्किक नहीं लगती।

चाहे हम उपकेशगच्छ को पार्श्व की परम्परा से सम्बन्धित मानें किन्तु उसकी पट्टावली विवादास्पद अवश्य लगती है उसका एक कारण तो यह है कि उसमें चार ही आचार्यों के नाम को दोहराया गया है। यद्यपि पूर्व मध्यकाल में नामों को दोहराने की परम्परा रही है किन्तु यह परम्परा महावीर के समय या ईस्वी पूर्व में भी थी इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

संवत् १६५५ में रचित उपकेशगच्छीय पट्टावली, केशी श्रमण के पश्चात् पांचवें पट्ट पर स्वयंप्रभसूरि का उल्लेख करती है तथा यह

बताती है कि स्वयंप्रभसूरि के शिष्य बुद्धकीर्ति से बौद्धधर्म प्रारम्भ हुआ। किन्तु हमारी दृष्टि में यह एक काल्पनिक अवधारणा ही है। यह तो संभव है कि पार्श्व की परम्परा से बुद्ध का कुछ परिचय रहा हो, किन्तु बुद्ध को स्वयंप्रभसूरि का शिष्य बताना एक कल्पना ही है। यह भी माना जाता है कि स्वयंप्रभसूरि ने श्रीमालनगर में धर्मोपदेश कर नब्बे हजार परिवारों को जैनधर्म में दीक्षित किया था। इन्हीं से श्रीमाल जाति का प्रारम्भ हुआ। आज इस सम्बन्ध में कोई भी साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। श्रीमालनगर की प्राचीनता भी पुरातात्त्विक प्रमाणों से ई० पूर्व छठीं शताब्दी में सिद्ध नहीं होती, अतः यह केवल परम्परागत विश्वास ही माना जा सकता है। उपकेशगच्छपट्टावली के अनुसार स्वयंप्रभसूरि के पश्चात् छठें पट्ट पर रत्नप्रभसूरि हुए। इनके द्वारा उपकेशपुर एवं कोरण्टपुर में भगवान् महावीर की प्रतिमा स्थापित करने के उल्लेख मिलते हैं। पट्टावली के विवरणानुसार ये दोनों मन्दिर वीर निर्वाण के ७० वर्ष पश्चात् निर्मित हुए थे किन्तु आज इस संदर्भ में भी हमें कोई पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। पट्टावली में रत्नप्रभसूरि के द्वारा भी राजस्थान में लगभग एक लाख चालीस हजार लोगों को जैनधर्म में दीक्षित करने का उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि इस सम्बन्ध में पुष्ट प्रामाणिकता का अभाव है परन्तु इतना अवश्य माना जा सकता है कि इन्होंने राजस्थान में विहार करके वहाँ लोगों को जैनधर्म में दीक्षित किया होगा। इनका स्वर्गवास वीर निर्वाण संवत् ८४ में माना जाता है। राजस्थान में ई० पू० पाँचवीं शताब्दी में जैनधर्म की उपस्थिति पुरातात्त्विक प्रमाणों से सिद्ध होती है। वीर निर्वाण के ८४ वर्ष पश्चात् का एक अभिलेख बाडली (राजस्थान) से प्राप्त होता है जो इस तथ्य को प्रामाणित कर देता है। यद्यपि यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि रत्नप्रभसूरि ने पार्श्वापत्य परम्परा के होकर भी पार्श्व के स्थान पर महावीर के मंदिरों का निर्माण क्यों कराया? इस सूचना से ऐसा लगता है कि केशी के महावीर की परम्परा में सम्मिलित हो जाने के पश्चात् उनके शिष्य स्वयंप्रभ और प्रशिष्य रत्नप्रभ भी अपने को महावीर की परम्परा से ही सम्बन्धित मानते रहे होंगे। ई० पू० ५वीं शताब्दी में पार्श्व की कोई स्वतंत्र परम्परा चल रही थी, इसका हमें

कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। हमें केवल परम्परागत मान्यता पर ही विश्वास करना होता है।

यह विश्वास किया जाता है कि रत्नप्रभसूरि के समय में ही उपकेशगच्छ से कोरण्टगच्छ निकला। किन्तु उपकेशगच्छ और कोरण्टगच्छ ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में अस्तित्ववान् थे, इसका भी कोई साहित्यिक या पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। उपकेशगच्छ के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन पुरातात्विक साक्ष्य वि० सं० १०११ का तथा कोरण्टगच्छ का वि० सं० ११०२ का उपलब्ध होता है। जैन परम्परा के गण, कुल एवं शाखा आदि के सम्बन्ध में प्राचीनतम उल्लेख कल्पसूत्र पट्टावली, नंदीसूत्र पट्टावली तथा मथुरा के अभिलेखों में प्राप्त होते हैं। इन अभिलेखों में कहीं भी इन दोनों गच्छों का नाम नहीं आता है। उपकेशगच्छीय पट्टावली की मान्यतानुसार रत्नप्रभ पार्श्व की परम्परा के सातवें आचार्य थे। उनके पट्ट पर आठवें यक्षदेव आचार्य हुए और इन्हें मणिभद्र यक्ष का प्रतिबोधक भी बताया गया है। किन्तु यह एक विश्वास ही कहा जा सकता है। यक्षदेवाचार्य के पश्चात् नवें पट्ट पर कक्कसूरि, दसवें पट्ट पर देवगुप्त, ११वें पर सिद्धसूरि और १२वें पर रत्नप्रभ और १३ वें पर पुनः यक्षदेवसूरि हुए, यह उल्लेख मिलता है। किन्तु इस सम्बन्ध में न तो कोई साहित्यिक प्रमाण है और न ही कोई पुरातात्त्विक साक्ष्य है। उपकेशगच्छ पट्टावली वि० सं० १६५५ में निर्मित है, अतः प्राचीन साक्ष्यों के सम्बन्ध में इसे पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। उक्त पट्टावली के अनुसार चौदहवें पट्ट पर पुनः कक्कसूरि हुए। यह माना जाता है कि इनके द्वारा ओसवाल वंश में तांतहड, बापणा, कर्णाट, मोटाक्ष, कुलहट, विरिहट, सूचन्ति, चारवेडिया, चींचट, कुम्भट आदि गोत्र स्थापित हुए। इनका समय वीर निर्वाण के तीन सौ तीन वर्ष पश्चात् बताया गया है। इनके पश्चात् पंद्रहवें पट्ट पर देवगुप्त, १६वें पर सिद्धसूरि और १७वें पर रत्नप्रभसूरि के होने के उल्लेख मिलते हैं। इनके सम्बन्ध में पट्टावली में भी अन्य कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। १८वें पट्ट पर पुनः यक्षदेवसूरि के होने का उल्लेख है। इनका समय वीर निर्वाण के ५८५ वर्ष पश्चात् बताया गया है।

इनके द्वारा बारह वर्षीय दुष्काल के पश्चात् महावीर की परम्परा में हुए आर्यवज्र के शिष्य वज्रसेन के निधन के पश्चात् उनकी परम्परा में उनके शिष्यों की चार शाखायें स्थापित करने का उल्लेख मिलता है। यद्यपि इन चार शाखाओं का उल्लेख कल्पसूत्र पट्टावली में है किन्तु यह यक्षदेवसूरि द्वारा स्थापित हुई थी ऐसा उसमें उल्लेख नहीं है। यक्षदेवसूरि के पश्चात् १९वें पट्टपर कक्कसूरि, २०वें पर देवगुप्त, २१वें पर सिद्धसूरि, २२वें पर रत्नप्रभसूरि, २३वें पर यक्षदेव, २४वें पर पुनः कक्कसूरि, २५वें पर देवगुप्तसूरि, २६वें पर सिद्धसूरि, २७वें रत्नप्रभसूरि, २८वें पर यक्षदेवसूरि, २९वें पर पुनः कक्कसूरि, ३०वें पर देवगुप्त, ३१वें पर सिद्धसूरि, ३२वें पर रत्नप्रभसूरि, ३३वें पर यक्षदेवसूरि, ३४वें पर पुनः कक्कसूरि, ३५वें पर देवगुप्त तथा ३६वें पर सिद्धसूरि हुए। इस प्रकार ८वें पट्ट से लेकर ३६वें पट्ट तक कक्कसूरि, देवगुप्तसूरि, सिद्धसूरि, रत्नप्रभसूरि और यक्षदेवसूरि इन पांच नामों की ही पुनरावृत्ति होती रही है। इन आचार्यों के सम्बन्ध में पट्टावली भी नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य कोई जानकारी नहीं देती है। इसके पश्चात् हम देखते हैं कि पट्टावली में केवल तीन नामों कक्कसूरि, देवगुप्त और सिद्धसूरि की ही पुनरावृत्ति होती है। फलतः ३७वें पट्ट पर कक्कसूरि, ३८वें पर देवगुप्त, ३९वें पर सिद्धसूरि, ४०वें पट्ट पर पुनः कक्कसूरि, ४१वें पर देवगुप्तसूरि, ४२वें पर सिद्धसूरि के होने का उल्लेख है। ४१वें पट्टधर देवगुप्त का समय वि० सं० ९९५ बताया गया है। उपकेशगच्छीय पट्टावली में सर्वप्रथम यहीं से ऐतिहासिक संकेत उपलब्ध होने लगते हैं। पट्टावली इनके शिथिलाचारी होने का भी उल्लेख करती है तथा यह बताती है कि देवगुप्तसूरि के शिथिलाचारी होने पर संघ ने इनके पट्ट पर सिद्धसूरि को स्थापित किया। सिद्धसूरि के पश्चात् ४३वें पट्टधर कक्कसूरि हुये। इन्हें "पंचप्रमाण" नामक ग्रन्थ का कर्ता बताया गया है। ४४वें पट्टधर देवगुप्त हुए। इनका काल विक्रम सम्वत् १०७२ बताया गया है। ४५वें पट्टधर नवपदप्रकरणस्वोपज्ञटीका के कर्ता सिद्धसूरि और ४६वें पट्टधर पुनः कक्कसूरि के होने के उल्लेख मिलते हैं। इन कक्कसूरि के सम्बन्ध में १०७८ ई० का एक अभिलेख प्राप्त होता है। ४७वें पट्ट पर

पुनः देवगुप्त, ४८वें और ४९वें पर पुनः कक्कसूरि के होने का उल्लेख है। इनके पश्चात् ५०वें पट्ट पर देवगुप्तसूरि हुए इनका समय संवत् ११०८ बताया गया है। कहा जाता है कि इन्हें भिन्नमाल नगर में ६ लाख मुद्रा खर्च करके आचार्य पद पर महोत्सवपूर्वक स्थापित किया गया था। यहां विचारणीय तथ्य यह है कि ४४वें पट्टधर देवगुप्तसूरि का समय वि० सं० १०७२ बताया गया है और ४५वें पट्टधर कक्कसूरि का १०७८ का अभिलेख भी प्राप्त होता है। १०७८ वि० सं० से लेकर ११०८ तक के ३० वर्ष के अल्प समय में चार आचार्यों का होना संदेहास्पद लगता है। संभवतः पट्टावलीकार ने तीनों नाम पुनः दोहरा दिये हैं। ५१वें पट्टधर सिद्धसूरि, ५२वें पट्टधर कक्कसूरि का समय वि० सं० १२५४ बताया गया है। ५३वें पट्टपर देवगुप्तसूरि, ५४वें पर सिद्धसूरि, ५५वें पर पुनः कक्कसूरि हुए। इन ५५वें पट्टधर का समय पट्टावली के अनुसार वि० सं० १२५२ है। इनके संबन्ध में १२५९ का अभिलेख भी मिलता है, इससे यह सिद्ध होता है कि यह एक ऐतिहासिक आचार्य रहे होंगे। ५६वें देवगुप्त, ५७वें सिद्धसूरि, ५८वें कक्कसूरि, ५९वें देवगुप्त, ६०वें सिद्धसूरि, ६१वें कक्कसूरि, ६२वें देवगुप्त, ६३वें सिद्धसेन, ६४वें कक्कसूरि, ६५वें देवगुप्तसूरि, ६६वें सिद्धसूरि हुए। इस प्रकार वि० सं० १२५२ से १३३० के मध्य लगभग ७८ वर्ष की अवधि में दस आचार्यों के होने के उल्लेख हैं। यह विवरण भी संदेहास्पद ही लगता है। लगता है कि इसमें दो बार इन तीनों नामों को पुनः दुहरा दिया गया है। अधिकतम ७८ वर्ष में ३ आचार्यों को होना चाहिए। ६६वें पट्टधर सिद्धसूरि के वि० सं० १३४५ का एक अभिलेख भी मिलता है। सिद्धसूरि का एक अभिलेख १३८५ का भी प्राप्त होता है।

पट्टावली और अभिलेखीय आधारों पर ६५-६६वें आचार्य का काल ५५-५६ वर्ष आता है। यद्यपि ६७वें पट्टधर कक्कसूरि का एक अभिलेख १३८० का उपलब्ध है। इससे ऐसा लगता है कि सिद्धसूरि ने अपने जीवन के उत्तरार्ध में ही कक्कसूरि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था और लगभग १४ वर्ष की अवधि तक दोनों ही उनके साथ आचार्य पद पर रहे होंगे।

६७वें पट्टधर कक्कसूरि का आचार्यपद महोत्सव शाह जागर के द्वारा वि० सं० १३७८ में हुआ था इनके सम्बन्ध में वि० सं० १३८० से १४०५ तक के अनेक अभिलेख मिलते हैं। पट्टावली के अनुसार ६८वें पट्टधर देवगुप्तसूरि हुए। इनका आचार्य पद महोत्सव ५ हजार स्वर्णमुद्रायें खर्च करके सारंगधर नामक श्रावक ने दिल्ली नगर में वि० सं० १४०९ में किया था। इनके सम्बन्ध में अभिलेखीय साक्ष्य वि० सं० १४३० का मिलता है।

६९वें पट्टधर सिद्धसूरि हुए। पट्टावली के अनुसार वि० सं० १४७५ में इनका आचार्यपद महोत्सव किया गया। यद्यपि इनके संबंध में अभिलेखीय साक्ष्य वि०सं० १४४५ का मिलता है। यह एक विवादास्पद स्थिति है। क्योंकि देवगुप्तसूरि का आचार्यपद महोत्सव पट्टावली के अनुसार १४०९ में है और उनका अभिलेखीय साक्ष्य भी १४३० का है। अतः यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि वि० सं० १४५५ के लगभग सिद्धसूरि हुए होंगे। पट्टावली १४७५ वि० सं० में होने वाले जिस सिद्धसूरि का उल्लेख करती है, वे संभवतः ७२वें पट्टधर होंगे। हमें ऐसा लगता है कि पट्टावली में देवगुप्त सूरि के पश्चात् सिद्धसूरि कक्कसूरि और देवगुप्तसूरि की एक पुनरावृत्ति को छोड़ दिया गया है, क्योंकि ७१वें पट्टधर देवगुप्तसूरि के सम्बन्ध में हमें १४६८ से १४९७ तक के अनेक अभिलेख उपलब्ध होते हैं। वि० सं० १४३० से वि सं० १४९४ तक की अवधि में हमें एक ही साथ देवगुप्त एवं सिद्धसूरि के अनेक अभिलेखीय साक्ष्य मिलते हैं। इससे ऐसा लगता है कि इस अवधि के बीच तीनों नामों की एक पुनरावृत्ति और हुई होगी। पट्टावली के अनुसार ७२वें पट्टधर सिद्धसूरि हुए। पट्टावली इनका काल वि० सं० १५६५ मानती है। हमें इनके सम्बन्ध में १५६६ से ७६ तक के अनेक अभिलेख उपलब्ध होते हैं।

७३वें पट्टधर कक्कसूरि हुए। पट्टावली के अनुसार इन्हें वि० सं० १५९९ में जोधपुर नगर में आचार्यपद प्रदान किया गया। इनके सम्बन्ध में कोई अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध नहीं है।

७४वें पट्टधर देवगुप्तसूरि का पाटमहोत्सव वि० सं० १६३१ में मंत्री सहसवीर के पुत्र देदागर ने किया। इनके सम्बन्ध में १६३४ का एक अभिलेख भी उपलब्ध होता है।

७५वें पट्टधर सिद्धसूरि का पाटमहोत्सव विक्रमपुर नगर में वि० सं० १६५५ में महामंत्री ठाकुरसिंह ने किया। इनके सम्बन्ध में वि० सं० १६५९ का अभिलेखीय साक्ष्य भी उपलब्ध है।

उपकेशगच्छ की जिस पट्टावली को हमने आधार बनाया है, वह इन्हीं के काल में बनी। यद्यपि उसमें इनके बाद भी निम्न नाम जोड़े गये।

७६वें पट्टधर पुनः कक्कसूरि हुए। इनका पाटमहोत्सव वि० सं० १६८९ में मंत्री ठाकुरसिंह की पुत्रवधू साहिबदे द्वारा हुआ।

पट्टावली के सूचनानुसार ७७वें पट्टधर देवगुप्तसूरि हुए, इन्हें वि० सं० १७२७ में आचार्यपद प्रदान किया गया।

७८वें पट्टधर सिद्धसूरि हुए। इनका पाटमहोत्सव वि० सं० १७६७ में भगतसिंह ने किया।

७९वें पट्टधर पुनः कक्कसूरि हुए। इनका पाटमहोत्सव वि० सं० १७८३ में मंत्री दौलतराम ने किया।

८०वें पट्टधर देवगुप्तसूरि हुए। इनको आचार्यपद पर १८०८ में प्रतिष्ठित किया गया।

८१वें पट्टधर सिद्धसूरि हुए। इनका पट्टाभिषेक खुशालचन्द ने वि० सं० १८४७ में किया।

८२वें पट्टधर कक्कसूरि हुए। इनका पाटमहोत्सव वि० सं० १८९१ में बीकानेर में हुआ।

८३वें पट्टधर देवगुप्तसूरि हुए। इनका पट्टाभिषेक वि० सं० १९०५ में फलौदी नगर के वैद्य मुहता के परिवारों द्वारा किया गया।

८४वें पट्टधर सिद्धसूरि हुए। इनका पट्टाभिषेक वैद्य मुहता गोत्र के ठाकुर श्री हरिसिंह जी के द्वारा वि० सं० १९३५ में किया गया। इनके पश्चात् इस परम्परा में वर्तमान काल तक कुछ और आचार्य हुए होंगे जिनकी सूचना हमें नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपकेशगच्छ, जो स्वयं को पार्श्वनाथ की परम्परा से सम्बद्ध मानता है, पार्श्व से लेकर २० वीं शती तक

अपनी आचार्य परम्परा को प्रस्तुत करता है पर इस पट्टावली के ध्यान पूर्वक अध्ययन से पता चलता है कि आर्यकेशी के पश्चात् ११वीं शती के मध्य तक हमें इस परम्परा के सम्बन्ध में अनुश्रुति से नामों की पुनरावृत्ति के अतिरिक्त ऐतिहासिक और साहित्यिक साक्ष्य नहीं मिलते हैं। अतः हमें अन्धकार में ही रहना पड़ता है। यद्यपि ११ वीं से २० वीं शती तक इस गच्छ की जो पट्टावली उपलब्ध है उसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। उपकेशगच्छ के सन्दर्भ में प्राचीनतम स्पष्ट अभिलेख वि० सं० १०११ से प्राप्त होने लगता है। अर्थात् ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर १७ वीं शताब्दी तक की पाषाण एवं धातु प्रतिमा तथा मंदिरों से उपकेशगच्छ के अनेक अभिलेख उपलब्ध हैं। अतः ११ वीं से २० वीं शती तक इसकी ऐतिहासिकता निर्विवाद है यद्यपि इससे पूर्व के १५०० वर्ष का काल अन्धकारपूर्ण ही है। यद्यपि उपकेशगच्छ स्वयं को पार्श्व की परम्परा से जोड़ता है फिर भी हमें इस गच्छ के आचारादि में कोई ऐसी विशिष्ट परम्परा नहीं मिलती है जो उसे अन्य श्वेताम्बर गच्छों से स्पष्ट रूप से अलग कर सके। सम्भव यह है कि आर्यकेशी आदि के द्वारा महावीर के संघ में विलीन होने पर इन्होंने अपनी विशिष्ट पहचान तो खो दी किन्तु अपने को पार्श्व की परम्परा से जोड़े रखने की अनुश्रुति यथावत् जीवित रखी। अतः हम यह कह सकते हैं कि पार्श्व की परंपरा २० वीं शती तक जीवित रही है चाहे उसकी अपनी विशिष्ट पहचान केशी आदि पार्श्वापत्य आचार्यों के महावीर के संघ में विलीन होने के पश्चात् समाप्त हो गयी हो।

पार्श्व सम्बन्धी साहित्य

यद्यपि स्थानांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा, राजप्रश्नीय आदि में पार्श्व और उनकी परम्परा के सम्बन्ध में प्रकीर्ण विवरण उपलब्ध होते हैं, किन्तु पार्श्व के सम्बन्ध में सुव्यवस्थित विवरण देने वाला कल्पसूत्र को छोड़कर अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। कल्पसूत्र भी विशुद्धरूप से केवल पार्श्व का ही जीवनवृत्त नहीं देता है, अपितु वह अन्य तीर्थंकरों का जीवन परिचय संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करता है। निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों में भी पार्श्व और उनकी परम्परा के

कुछ विवरण उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु ये ग्रन्थ भी पार्श्व का सुव्यवस्थित जीवन विवरण प्रस्तुत नहीं करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में सर्व प्रथम शीलांक (लगभग ९ वीं शती) के चउपन्नपुरिसचरियं और आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में पार्श्व का जीवनवृत्त मिलता है।

इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति, भगवती आराधना आदि से पार्श्व एवं पार्श्वस्थों के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएं उपलब्ध हैं, किन्तु इनमें पार्श्व के सुव्यवस्थित जीवनवृत्त का अभाव है। दिगम्वर परम्परा में पार्श्व के सुव्यवस्थित जीवनवृत्त को प्रस्तुत करने वाला प्रथम ग्रंथ जिनसेन एवं गुणभद्र का महापुराण है। महापुराण दो भागों—आदिपुराण और उत्तरपुराण में विभाजित है। आदिपुराण में ऋषभदेव का वर्णन है; जबकि उत्तरपुराण में अन्य २३ तीर्थंकरों का वर्णन है। इसी उत्तरपुराण में पार्श्व का जीवनवृत्त भी वर्णित है। यह उत्तरपुराण गुणभद्र की कृति है और इसका रचनाकाल ई० सन् ८४८ के लगभग माना जा सकता है किन्तु इसके पूर्व पार्श्व के सम्बन्ध में स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे जाने लगे थे। अभी तक उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के लगभग २५ से अधिक स्वतंत्र ग्रंथ पार्श्व के जीवनचरित पर लिखे गये हैं जिनकी यहाँ संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

(१) **पार्श्वाभ्युदयः जिनसेन**—पार्श्व पर लिखे गये स्वतन्त्र ग्रन्थों में पार्श्वाभ्युदय का स्थान सर्वप्रथम आता है। यह ग्रंथ दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेन प्रथम की रचना मानी जाती है। इसका रचनाकाल ई० सन् ७८३ से पूर्व माना जाता है। मूलतः एक समस्यापूर्ति काव्य के रूप में इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। इसमें चार सर्ग और ३६४ पद्य हैं। जिसमें मुख्यतया पार्श्व के उपसर्गों की चर्चा उपलब्ध होती है। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में निबद्ध है।

(२) **पार्श्वनाथचरितम् : वादिराजसूरि**—यह ग्रन्थ १२ सर्गों में विभक्त है, तथा पार्श्व के पूर्वभवों और जीवनवृत्त का विस्तार से विवेचन करता है। इसकी भाषा संस्कृत है। कवि ने 'इसे पार्श्व जिनेश्वरचित महाकाव्य' कहा है। यह ई० सन् १०१९ की रचना है।

इसके रचयिता दिगम्बर जैन परम्परा के नन्दिसंघ के श्रीपालदेव के प्रशिष्य तथा मतिसागर के शिष्य वादिराजसूरि हैं। इस ग्रंथ का प्रकाशन माणिकचन्द्र जैन दिगम्बर ग्रंथमाला, बम्बई द्वारा वि. सं. १९७३ में हुआ है। इस ग्रंथ पर अनेक व्याख्यायें भी लिखी गई हैं।

(३) **पासनाहचरिउ : देवदत्त**—डा. देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने अपभ्रंश के चरितकाव्यों में देवदत्त के पासनाहचरिउ का उल्लेख किया है। वर्तमान में यह कृति उपलब्ध नहीं होती है। जम्बूस्वामीचरिउ के रचयिता महाकवि वीर ने अपने पिता का नाम देवदत्त उल्लिखित किया है। यदि पार्श्वनाहचरिउ के रचयिता यही देवदत्त हैं तो इस ग्रंथ का रचनाकाल ईसा की दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जायेगा। कृति अनुपलब्ध होने से उसके सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता है।

(४) **पासनाहचरिउ : पद्मकीर्ति**—अपभ्रंश भाषा में निबद्ध इस कृति के रचयिता दिगम्वर आचार्य जिनसेन (द्वितीय) के शिष्य पद्मकीर्ति हैं। ई. सन् १०७७ में इस ग्रन्थ की रचना हुई है। इसमें पार्श्व के पूर्व और वर्तमान भव का सविस्तार विवेचन है। प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी ने सन् १९६५ में इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया।

(५) **सिरिपासनाहचरियं: देवभद्र**—श्वेताम्बर चन्द्रगच्छीय अभयदेवसूरि के पट्टधर प्रसन्नचन्द्रसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि द्वारा ई. सन् १११९ (वि. सं. ११६८) में इस ग्रंथ की रचना की गयी है। प्राकृत भाषा में लिखित इस ग्रन्थ का प्रकाशन सर्व प्रथम मणिविजयगणिवर ग्रन्थमाला द्वारा ई. सन् १९४५ में हुआ था। इसका एक गुजराती अनुवाद भी आत्मानन्द सभा, भावनगर से प्रकाशित हुआ है।

(६) **पासनाहचरिउ: विबुधश्रीधर**—यह कृति भी अपभ्रंश भाषा में लिखित है। १२ संधियों में विभक्त यह ग्रन्थ १२०० श्लोक प्रमाण है। ग्रंथ का रचनाकाल ई. सन् ११३२ सुनिश्चित है। इसके रचयिता विबुधश्रीधर दिगम्बर परम्परा से सम्बन्धित थे।

(७) **पासनाहचरिउ : देवचन्द्र**—अपभ्रंशभाषा में लिखित इस ग्रंथ में ११ संधियां और १०२ कर्बट हैं। इसकी कथावस्तु परम्परागत ही

है। ग्रंथ के लेखक दिगम्बर परम्परा के मूलसंघ के वासवचन्द्र के शिष्य देवचन्द्र हैं। डा. नेमिचन्द्र शास्त्री ने इस ग्रन्थ को १२ वीं शताब्दी ई० सन् के आसपास माना है।

(८) **पार्श्वनाथचरित्र : माणिक्यचन्द्रसूरि**—श्वेताम्बर राजगच्छीय माणिक्यचन्द्रसूरि ने वि. सं. १२७६ में इस ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ में १० सर्ग हैं। यह ग्रन्थ ६७७० श्लोक परिमाण है। इसमें भी पार्श्व के पूर्वभवों के साथ उनके जन्म, दीक्षा, कैवल्य एवं निर्वाण का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसकी ताड़पत्रीय प्रति शान्तिनाथ जैन ग्रन्थ भण्डार, खंभात में सुरक्षित है।

(९) **पार्श्वनाथचरित्र : विनयचंद्र**—संस्कृत भाषा में निबद्ध यह कृति ६ सर्गों में विभक्त है तथा ४९८५ श्लोक प्रमाण है। यह कृति अभी तक अप्रकाशित ही है। इसकी कथावस्तु परम्परागत ही है। इस ग्रंथ के रचनाकार चन्द्रगच्छीय मानतुंगसूरि के प्रशिष्य एवं रविप्रभसूरि के शिष्य विनयचन्द्रसूरि हैं। ई. सन् १२२९-८८ के मध्य इस ग्रन्थ का रचनाकाल माना जाता है।

(१०) **पार्श्वनाथचरित्र : सर्वानन्दसूरि**—संस्कृत भाषा में निबद्ध ग्रंथ में पाँच सर्ग हैं। यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसकी ताड़पत्रीय प्रति संघवीपाड़ा ग्रन्थ भंडार पाटन, में सुरक्षित है। यह अत्यन्त जीर्ण है और इसमें कुल ३४५ पृष्ठ हैं जिसमें प्रारम्भ के १५६ पृष्ठ लुप्त हैं। ग्रन्थ का रचनाकाल ई. सन् १२३४ माना गया हैं। इसके रचयिता श्वे० परम्परा के शालिभद्रसूरि के प्रशिष्य एवं गुणभद्रसूरि के शिष्य सुधर्मागच्छीय सर्वानन्दसूरि हैं।

(११) **पार्श्वनाथचरित्र : भावदेवसूरि**—संस्कृत भाषा में निबद्ध इस कृति में ८ सर्ग और लगभग ६ हजार श्लोक हैं। इस ग्रन्थ के रचनाकार चन्द्रकुल के खंडिलगच्छ के आचार्य भावदेवसूरि हैं। ग्रन्थ का रचनाकाल वि० सं० १४१२ (ई० सन् १३५५ है)।

(१२) **पार्श्वनाथपुराण : सकलकीर्ति**—संस्कृत भाषा में निबद्ध इस कृति में २३ सर्ग हैं। इस ग्रन्थ के रचनाकार दिगम्बर परम्परा के

बलात्कारगण के ईडर शाखा के आचार्य सकलकीर्ति माने गये हैं। ग्रंथ का रचनाकाल ईसा की चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

(१३) **पासनाहचरिउ : रइधू** :—अपभ्रंश भाषा में निबद्ध इस ग्रन्थ में ७ संधियाँ हैं। इसकी कथावस्तु परम्परागत है। ग्रन्थ के रचनाकार दिगम्बर परम्परा के काष्ठासंघ के माथुरगच्छीय पुष्कर-गणीशाखा से सम्बद्ध महाकवि रइधू हैं। इनका समय ई० सन् १४०० से १४७९ के मध्य माना जाता है।

(१४) **पासनाहचरिउ : असपाल**—अपभ्रंश भाषा से निबद्ध इस ग्रंथ में १३ सन्धियाँ हैं। इसकी कथावस्तु पारम्परिक ही है। ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति अग्रवाल दिगम्बर जैन मन्दिर, मोती कटरा, आगरा में उपलब्ध है। इस ग्रंथ के रचनाकार असपाल कवि गृहस्थ थे, किन्तु दिगम्बर परम्परा के मूल संघ के बलात्कार गण से सम्बन्धित थे। इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० सन् १४८२ है।

(१५) **पासपुराण : तेजपाल**—यह ग्रन्थ एवं अभी तक अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति अजमेर और जयपुर के ग्रंथ भण्डारों में उपलब्ध हैं। आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में उपलब्ध इसकी प्रति पर रचनाकाल वि० सं० १५१६ अर्थात् ई० सन् १४५८ उल्लिखित है। इसके लेखक कवि तेजपाल ने इसकी रचना मूलसंघ के पद्मनन्दिन के शिष्य शिवनन्दि भट्टारक के निर्देश से की थी।

(१६) **पासनाहकाव्य: पद्मसुन्दरगणि**—यह कृति संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसके रचनाकार श्वेताम्बर परम्परा के तपागच्छ की नागोरी शाखा के पद्मसुन्दर गणि हैं। ये जोधपुर नरेश मालदेव द्वारा सम्मानित थे। ये ईसा के सोलहवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। अतः ग्रंथ का रचनाकाल भी यही होना चाहिए।

(१७) **पार्श्वनाथचारित्र : हेमविजय**—प्रस्तुत कृति संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसमें ६ सर्ग और ३०३६ श्लोक हैं। ग्रन्थ की कथा-वस्तु परम्परागत है। इसके रचयिता श्वेताम्बर परम्परा के कमल-

विजयसिंह के शिष्य हेमविजयगणि हैं। ग्रंथ का रचनाकाल ई० सन् १५७५ है।

(१८) **पार्श्वपुराण : वादिचंद्र**—१५००० श्लोक प्रमाण यह विशाल ग्रन्थ पौराणिक शैली में लिखा गया हैं। इस ग्रन्थ के रचयिता दिगम्बर परम्परा के भट्टारक ज्ञानभूषण के प्रशिष्य एवं भट्टारक प्रभाचन्द्र के शिष्य वादिचन्द्र हैं। ई० सन् १६८३ में यह ग्रन्थ लिखा गया। इस अप्रकाशित ग्रन्थ की एक प्रति इटावा के सरस्वती भण्डार में है।

(१९) **पार्श्वनाथचरितः उदयवीरगणि**—यह ग्रन्थ ८ सर्गों में विभक्त एवं संस्कृत भाषा में निबद्ध है। यह हेमचन्द्रसूरि के त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित की परम्परानुसार ही लिखा गया है। ग्रन्थ के रचनाकार तपगच्छीय हेमसूरि के प्रशिष्य और संघवीर के शिष्य उदयवीरगणि हैं। ग्रंथ का रचनाकाल वि० सं० १६५४, ई० सन् १५९७ माना जाता है।

(२०) **पार्श्वपुराण : चन्द्रकीर्ति**—यह ग्रंथ १५ सर्गों में विभक्त एवं २७१० श्लोक प्रमाण है। वि० सं० १६५४ ई० सन् १५९७ में भट्टारक श्रीभूषण के शिष्य चन्द्रकीर्ति ने इस ग्रंथ की रचना की। ये दिगम्बर पम्परा के काष्ठासंघ के थे। ग्रंथ की प्रशस्ति में इन्होंने अपनी विस्तृत गुरु परम्परा की चर्चा की है। डा० जोहरापुरकर ने चन्द्रकीर्ति का समय वि० सं० १६५४-१६८१ अर्थात् ई० सन् १५९७-१६२४ ई० माना है।

●

सन्दर्भ :

१. स्थ (T) निकिये कुले गनिस्य उग्गहिनिय शिषो वाचको घोषको आर्हतो पश्वंस्य प्रतिमा

—जैन शिलालेख संग्रह, द्वितीय भाग लेख क्रमांक ८३ पृ. ५२

२. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका (पं० कैलाशचन्दजी) पृ० ४५०

३. (अ) पारशव इत्येके । बौधायन धर्मसूत्र १।१७।३
(ब) कामात्पारशव इति पुत्राः । वही २।३।३०

४. (अ) देखें—जैन आगमों पर गुजरात विश्वविद्यालय अहमदाबाद द्वारा आयोजित सेमीनार में पठित मेरा लेख। (अप्रकाशित)
(ब) ऋषिभाषित की भूमिका, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर से प्रकाश्यमान ।

५. (अ) पासेण अरहता इसिणा बुइतं ।
(ब) गति वागरणगंथाओ पभिति जाव सामित्तं इमं अज्झयणं ताव इमो बीओ पाढो दिस्सति । —इसिभासियाइं ३१

६. (ए) सूत्रकृतांग २।७।८
(बी) आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध १५।२५
(सी) उत्तराध्ययन २३।१, २३।१२ २३।२३
(डी) भगवती, १।४२३; २।९५, ९७, १०९, ११०; ५।२५४-२५७; ९।७८
(इ) कल्पसूत्र—१४९-१५९
(एफ) निरयावलिका—३।१
(जी) आवश्यकनिर्युक्ति २२१-३२, २३४, २५२-५४, २५९, २६२, २६८, २९९, ३०५, ३७७, ३८०, ३८४-८९, १०९८
(एच) समवायांग ८।८, ९।४, १६।४, २३।३, २४।१, ३०।६, ३८।१, ७०।२, ९५।३
प्रकीर्ण समवाय १४, ३४, ६२, ६३, ६६, ७८, २२२, २२४।१, २२७।१, २२८।१
स्थानांग ९।६१;

७. समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। —आचारांग २।१५।२५

८. एकं समयं भगवा सक्केसु विहरति कपिलवत्थुस्मिं। अथ खो वप्पो सक्को निगण्ठसावगो। —अंगुत्तरनिकाय; चतुष्कनिपात, वग्ग ५
देखें—अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा का यही सन्दर्भ।

८-A एकं समयं भगवा वेसालियं विहरति महावने कूटागारसालायं। तेन खो पन समयेन सच्चको निगण्ठपुत्तो वेसालियं पटिवसति भस्सप्पवादको पण्डितवादो साधुसम्मतो बहुजनस्स।
—मज्झिमनिकाय १।३५।१।१

९. निग्गंथा एक साटका
—मज्झिमनिकाय महासिंहनादसुत्त, १।१।२
तुलनीय—आचारांग १।९

१०. छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं, एगं साडगमायाए।–आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध १५।७६६

११. संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थमवगारे॥
—आचारांग, १।९।४

12. See–Sacred Books of the East : Vol XLV : Jain, Sutras : Introduction, pp. xxii. xxix-xxxii

१३. अचेलगो य जो धम्मो जो इमो सन्तरुत्तरो।
उत्तरा० २३।१३

१४. निगण्ठो नातपुत्तो चातुयामसंवरसंवुतो सब्बवारिवारितो सब्बवारियुतो सब्बवारिधुतो सब्बवारिफुटो।
मज्झिमनिकाय, भाग २ उपालिसुत्तं ६।०।८, पृष्ठ ४९

१५. (अ) तए णं उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।
—सूत्रकृताङ्ग २।७।३८;

(ब) तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंच-मव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति ।।
—भगवतीसूत्र १।९।४३२;

(स) पंचमहव्वयधम्मं पडिवज्जइ भावओ ।
—उत्तराध्ययनसूत्र २३ ८७

१६. उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे णियंठे मेदज्जे ।
—सूत्रकृताङ्ग २।७।८

१७. पासावच्चिजे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे ।
—भगवतीसूत्र १।९।४२३;
तेणं समएणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो·····भावेमाणा विहरंति ।। —भगवतीसूत्र २।५।९५; ५।९।२५४-२५५;
तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे गंगेए नामं अणगारे·····। —भगवतीसूत्र ९।३२।७८

१९. तेणं समएणं पासावच्चिजे केसी नाम कुमारसमणे·····भावेमाणे विहरइ । राजप्रश्नीयसूत्र—२५३; (संपा० श्री मधुकर मुनि)

२०. तेणं कालेणं २ पासे णं अरहा पुरिसादाणीए आइगरे, जहा महावीरो, नवुस्सेहे सोलसेहिं समणसाहस्सीहिं अट्टतीसाए अज्जियासहस्सेहिं जाव कोट्ठए समोसढ़े ।
निरयावलिया-पुप्फियाओ १;

२१. अहं पि णं गोयमा ! एवमाइयक्खामि, भासामि, पण्णवेमि परुवेमि—भगवती २०।५।११०;
पासेण अरहया पुरिसादाणिएणं सासए लोए बुइए·····
भगवती ५।९।२५५

२२. चाउज्जामे णियण्ठे अट्ठविहं कम्मगण्ठि णो पकरेति
ऋषिभाषित ३१
पंच अत्थिकाया ण कयाति णासी जाव णिच्चा, वही

23. Jain Sutras by Hermann Jacobi, (SBE, Vol. XLV.) Introduction p. xxi.

24. We ought also to remember both that the Jaina religion is certainly older than Mahāvira, his reputed predecessor Pārsva having almost certainly existed as a real person.

—The Uttaradhyayanasutra by J. Charpentier, Uppsala 1922, Introduction, p. 21

25. As he (Vardhamān Mahāvira) is referred to in the Buddhist Scriptures as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt .....Parsva was remembered as twentythird of the twentyfour great teachers or Tirthankaras 'ford makers of the Jaina faith'–The Wonder that was India by Prof. A. L Basham, pp. 287-88.

26. Miscellaneous Essays, ii, p. 276

27. Parsvanātha, the Tirthankara, who immediately preceded Mahāvira, may also have been an historical person...If so, he was the real founder of Jainism, Mahāvira being only a reformer who carried still further the work that Pārsvanātha had begun—The Heart of Jainism by S. Stevenson, New Delhi, 1970, p. 48.

28. Buddhists refer to them as ascetics (samaṇas) and brahmins. Little is known of them historically, but one of these bodies, the Jainas, still exists—The Ouest of Enlightenment by E. J. Thomas, London 1950, Intfroduction. p. 4.

29. See. Indian Philosophy by Dr. S. Radhakrishnan, Vol. I p. 291

30.

31. The Jainas were a powerful mendicant order which originated or was reorganised a few years before Śākyamuni.—The Way to Nirvana by M. Poussin, p. 67.

32. See. History of Indian Philosophy by S. K. Belvalkar & R. D. Ranade, Poona 1927, pp. 443-45.

३३. पार्श्व का एक शिष्य महावीर के एक शिष्य से मिला तथा उसने प्राचीन जैन धर्म तथा महावीर द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म के बीच समन्वय कराया, यह सूचित करता है कि पार्श्व सम्भवतः एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। —भारतीय दर्शन का इतिहास, लेखक – सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता, भाग १, पृ. १७८.

34. He (Vardhamāna) was not so much the founder of a new faith as the reformer of the previously existing creed of Pārsvanātha who is said to have died in 776 B. C. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamana or Parsvanātha.—Indian Philosophy by S. Radhakrishnan Vol. I. p. 287.

35. The twenty-third teacher, Pārsva, the immediate predecessor of Mahāvira, seems to have been a historical figure—An Advanced History of India by R. C. Majumdār, Vol I. p, 86.

३६. जैन धर्म का मौलिक इतिहास—लेखक : आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज पृ. ३२५-२६.

३७. उवसग्गहरं पासं पासं वंदामि कम्मघणमुक्कं।
विसहर-विस-निन्नासं मंगल-कल्लाण-आवासं॥
विसहरफुलिंगमंतं कंठे धारेइ जो सया मणुओ।
तस्स गह-रोग-मारि-दुट्ठजरा जंति उवसामं॥

चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामोवि बहुफलो होइ ।
नरतिरिएसुवि जीवा, पावंति न दुक्ख-दोगच्चं ।।
तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणि-कप्पपायवब्भहिए ।
पावंति अविग्घेणं जीवा अयरायरं ठाणं ।।
इअ संथुओ महायस, भत्तिब्भरनिब्भरेण हियएण ।
ता देव दिज्ज बोहिं, भवे भवे पास जिणचंद ।।
—उवसग्गहरस्तोत्र (गुजराती) गाथा १-५ पृ. १४

३८. (अ) आगम साहित्य तथा छठी-सातवीं शताब्दी तक निर्मित निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि ग्रन्थों में तीर्थङ्करों के यक्ष-यक्षी की अवधारणा का कोई उल्लेख नहीं है। जहाँ तक मेरी जानकारी है श्वेताम्बर परम्परा में सर्वप्रथम, कहावली, निर्वाणकलिका त्रिषष्टिशलाकापुरिषचरित्र, और प्रवचनसारोद्धार तथा दिगम्बर परम्परा में तिलोयपण्णत्ति, प्रतिष्ठासारोद्धार, अपरिजपृच्छा आदि में यक्ष-यक्षियों के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु इनमें भी नामों को लेकर मत वैभिन्न्य देखा जाता है। उवसग्गहर स्तोत्र में सर्वप्रथम पार्श्व नामक यक्ष की सूचना मिलती है। यद्यपि प्रवचनसारोद्धार में इसे वामन कहा गया है। दिगम्बर परम्परा के प्रतिष्ठासारसंग्रह में और प्रतिष्ठासारोद्धार में यक्ष का नाम धरण है। कुछ परवर्ती श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी पार्श्व के यक्ष को धरण कहा गया है "पार्श्वस्य धरणो यक्षः श्यामाङ्गः कूर्मवाहनः—प्रतिष्ठासारसंग्रह, ५.६७;

धरणोभ्रनीलः कूर्मश्रितो भजतु वासुकिमौलिरिज्याम् ।
—प्रतिष्ठासारोद्धार ३.१५१;

३८. (ब) वामन २३ श्रीपार्श्वजिनस्य वामनो यक्षो मतान्तरेण पार्श्वनामा यक्षो गजमुख उरगफणमण्डित शिराः श्याम वर्णः देवीओ···पउमावई २३ ।। श्री प्रवचनसारोद्धारः (पूर्वभागः)

३९. (अ) मातुलिङ्गगदायुक्तौ विभ्राणो दक्षिणौ करौ ।
वामौ नकुल सर्पाङ्कौ कूर्माङ्कः कुञ्जराननः ।।

मूर्ध्नि फणिफणच्छत्रो यक्षः पार्श्वोऽसितद्युतिः ।
पद्मानन्दमहाकाव्यः परिशिष्ट-पार्श्वनाथ ९२-९३

(ब) पार्श्वयक्षं गजमुख मुरगफणामण्डितशिरसं श्यामवर्णं कूर्म-वाहनं चतुर्भुजं बीजपूरकोरगयुतदक्षिणपाणिं नकुल-काहियुतवामपाणिं चेति । निर्वाणकलिका १८-२३;

४०. प्रकीर्णक समवाय २२०-२२१;
समवायांग ९।४; १००।४; ८।८; १६।४; ३८।१

४१. तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए पंचविसाहे हुत्था, तंजहा-विसाहाहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते १, विसाहाहिं जाए २, विसाहाहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ३, विसाहाहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्नने ४, विसाहाहिं परिनिव्वुए ।।१४८।।

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए जे से गिम्हाण पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले, तस्स णं चित्तबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं पाणयाओ कप्पाओ वीसं सागरोवमट्ठिइयाओ अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वाणारसीये नयरीये आससेणस्य रण्णो वम्माए देवीए पुव्वरत्तकालसमयंसि विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आहारवक्कंतीए (ग्रं. ७००) भववक्कंतीए सरीखक्कंतीए कुच्छिंसि गब्भत्ताए वक्कंते ।। (१४९)

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए जे से हेमंताणं दोच्चे मासे तच्चे पक्खे पोसबहुले तस्स णं पोसबहुलस्स दसमी-पक्खेणं नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं राइंदियाणं विइक्कंताणं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आरोग्गा आरोग्गं दारयं पयाया ।१५१।

पुव्वि पि णं पासस्य अरहओ पुरिसादाणीयस्स माणुस्सगाओ गिहत्थधम्माओ अणुत्तरे आहोहिए, तं चेव सव्वं जाव दाणं दाइयाणं परिभाइत्तां, जे से हेमताणं दोच्चे मासे तच्चे पक्खे पोसबहुले तस्स णं पोसबहुलस्स एक्कारसीदिवसेणं पुव्वल्लुकाल-समयंसि विसालाए सिबियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए, तं चेव

सव्वं, नवरं वाणारसिं नगरिं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ निग्गच्छित्ता जेणवे आसमपए उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता असोगवरपायवस्स अहे सीयं सुंभे य अज्जघोसे य वसिट्ठे बंभयारि य। सोमे सिरिहरे चेव, वीरभद्दे जसे वि य ।१५६।

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अज्जदिण्णपामोक्खाओ सोलस समणसाहस्सीओ ऊक्कोसिया समणसंपया होत्था। पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स पुप्फचूलापामोक्खाओ अट्ठत्तीसं अज्जियासाहस्सीओ ऊक्कोसिया अज्जियासंपया होत्था। पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स सुव्वयपामोक्खाणं समणोवासगाणं एगा सयसाहस्सीओ चऊसट्ठिं च सहस्सा ऊक्कोसिया समणोवासगसंपया होत्था। पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स सुनंदापामोक्खाणं समणोवासियाणं तिण्णि सयसाहस्सीओ सत्तावीसं च सहस्सा ऊक्कोसिया समणोवासियाणं संपया होत्था'''।।१५७।। जे से वासाणं पढमे मासे दुच्चे पक्खे सावणसुद्धे, तस्स णं सावणसुद्धस्स अट्ठमीपक्खेणं ऊप्पिं सम्मेयसेलसिहरंसि अप्पचऊत्तीसइमे मांसिएणं भत्तेणं अपांणएणं विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागाएणं पुव्वल्लकालसमयंसि वग्घारियपाणी कालगए जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ।।१५९।।

पासस्स णं अरहओ जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स दुवालस वाससयाइं विइक्कंताइं, तेरसमस्स य वारसयस्स अयं तीसइमे संवच्छरे काले गच्छई ।।१६०।।

ठावेइ, सीयं ठावित्ता सीयाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहित्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयति, आभरणमल्लालंकारं ओमुइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, लोयं करित्ता अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं एगं देवदूसमादाय तिहिं पुरिससएहिं सद्धिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ।।१५३।।

पासे णं अरहा पुरिसादाणीए तेसीइं राइंदियाइं निच्चं वोसट्ठका

चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तंजहा-दिव्वा वा माणुस्सा वा तिरिक्खजोणिया वा, अणुलोमा वा पडिलोमा वा, ते ऊप्पन्ने सम्मं सहइतितिक्खइ खमइ अहियासेइ ।।१५४।।

तए णं से पासे भगवं अणगारे जाए इरियासमिए जाव अप्पाणं भावेमाणस्स तेसीइं राइंदियाइं विइक्कंताइं, चउरासीइमस्स राइंदियस्स अंतरा वट्टमाणस्स जे से गिम्हाणं पढमे मासे पढमे पक्खे चित्तबहुले तस्स णं चित्तबहुलस्स चउत्थीपक्खेणं पुव्वह्ण-कालसमयंसि धायतिपायवस्स अहे छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं विसाहाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते अणुत्तरे जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, जाव जाणमाणे पासमाणे विहरइ ।।१५५।।

पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्य अट्ठ गणा अट्ठ गणहरा हुत्था ।।१५६।। —कल्पसूत्र १४८-५६

४२.

(अ) समवायांग २२०, २२१
(ब) कल्पसूत्र १४९
(स) आवश्यक निर्युक्ति ३८८

४३. (अ) उत्तरपुराण ४३
(ब) पद्मपुराण

४४. पासणाहचरिउ (वादिराज) ९।९५।५

४५. हयसेणवम्मिलाहिं जादो हि वाणारसीए पासजिणो।
—तिलोयपण्णत्ती ४।५४८

४६. मुणिसुव्वओ य अरिहा, अरिट्ठनेमी य गोयमगुत्ता। सेसा तित्थयरा खलु कासवगुत्ता मुणेयव्वा —आवश्यक निर्युक्ति ३८१

४७. वाराणस्यामभूत् विश्वसेनः काश्यपगोत्रजः
—उत्तरपुराण ७३-७५

४८. णाहोग्गवंसेसु वि वीरपासो —तिलोयपण्णत्ती ४।५५०

४९. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित ९।३ पृष्ठ ३४८

५०. इक्खगुवंस संभूय भूवइ भाल तिलय भूओ आससेणो नाम नरवई
—सिरिपासनाहचरियं प्र० ३ पृष्ठ १३४

५१ (अ) सप्पं सयणे जणणी, तं पासइ तमसि तेण पासजिणो।
—आवश्यक निर्युक्ति १०९८

(ब) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित ९।२।४७१

(स) पासोवसप्पिणं सुमिणयम्मि सप्पं पलोइत्था
—सिरिपासनाहचरियं ११ प्र ३ पृष्ठ १४०

५२. (अ) सइँ सुखइ पासु यवेवि णाउ
—पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति) ८।२३।७०

(ब] पार्श्वाभिधानं कृत्वास्य……। उत्तरपुराण ७३।९२

५३. (अ) वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो॥
रायकुलेसुऽवि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु।
न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइआ।
(अच्छआ पाठ भी मिलता है)
—आवश्यकनिर्युक्ति २२१-२२२

(ब) मल्ली, अरिट्ठनेमी, पासो वीरो य वासुपुज्जो
ए ए कुमारसीहा गेहाओ निग्गया जिणवरिन्दा।
सेसा वि हु रायाणो पुहई भोत्तूण निक्खन्ता॥
—पउमचरियं (विमलसूरि) २२ पृ० ९२

(स) वासुपूज्यो महावीरो मल्लिः पार्श्वो यदुत्तमः।
कुमारा निर्गता गेहात् पृथिवीपतयोऽपरे॥
—पद्मपुराण २०।६७

(द) पञ्चानां तु कुमाराणां राज्ञां शेषजिनेशिनाम्
—हरिवंश ६०।२१४ (माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला)

(य) णेमी मल्लीवीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि।
—तिलोयपण्णत्ती ४।६७०

विशेष—आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि उपर्युक्त तीनों दिगम्बर ग्रंथों में कुमार अवस्था का तात्पर्य राजा नहीं बनना ही सिद्ध होता है क्योंकि इन तीनों ग्रन्थों में अगले चरण में कहा गया है कि शेष ने राज्य किया। जबकि श्वे० परम्परा ३ ग्रन्थ आवश्यकनिर्युक्ति में अगली गाथा का पाठ 'इत्थिआभिसेया' माने तो कुमार का अर्थ अविवाहित अधिक संगत लगता है। इस प्रकार मूल ग्रंथ उनकी अपनी परम्परा-गत मान्यताओं से भिन्न बात कहते हैं।

५४. समणस्स णं भगवओ महावीरस्स भज्जा 'जसोया' कोडिण्णा-गोत्तेण।—आचारांग (मधुकर मुनि) २।१५।७४४

५५. चउपन्नमहापुरिसचरियं २६१

५६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ९।३

५७. सिरिपासणाहचरियं ३।१६२-६३

५८. पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति) सन्धि ११-१२

५९. चउपन्नमहापुरिसचरियं २६२

द्रष्टव्य—कमठ सम्बन्धी घटना के साहित्यिक साक्ष्य ८वीं-९वीं शताब्दी के पूर्व के नहीं है—जबकि मूर्तिकला में पार्श्व के उपसर्गों का चित्रण ६ठीं शताब्दी से मिलने लगता है—यद्यपि वे नागोद्धार की घटना के प्रबल साक्ष्य नहीं माने जा सकते हैं।

६०. पासणाहचरिउ १०।१३।११०-११२.

६१. उत्तरपुराण ७३।९६-११७.

६२. (अ) देखें—भगवान् पार्श्व : देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० ८०-८३।

(ब) नागी नागश्च सम्प्राप्तशमभावौ कुमारतः
बभूवतुर्हीन्द्रश्च तत्पत्नी च पृथुश्रियौ
ततस्त्रिंशत्समामानकुमार समये गते ॥
—उत्तरपुराण ७३।११८-१९, पृ० ४३६-३७.

६३. (अ) धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमारन्नो छ अग्ग-महिसीओ पण्णत्ताओ तं जहा—आला, सक्का, सतेरा, सोयामणा इंदा धणविज्जुया।—स्थानांग ३५

(ब) ·····तं जहा १ इला २ सुक्का, ३ सतारा ४ सोदामिणी ५ इंदा ६ घणविज्जुया। —भगवती १०।५

(स) इला·····एवं कमा सतेरा, सोयामणी, इन्दा, घणा, विज्जु या वि सव्वाओ एयाओ धरणस्स अग्गयहिसीओ।
—ज्ञाता० २।३।१-६

(ज्ञातव्य है कि ज्ञाता में 'सुक्का' का उल्लेख नहीं उसके स्थान पर घना-विद्युता को अलग-अलग करके ६ की संख्या पूरी की गई है)

६४. भगवान् पार्श्व—देवेन्द्रमुनि शास्त्री, पृ० ८६

६५ महारायगिहाइसु मुणओ खित्तारिएसु विहरिंसु।
उसभो नेभी पासो वीरो अ अणारिएसुं पि॥
—आवश्यकनिर्युक्ति २३४

६६. कुरुकौशलकाशी सुह्मावंती पुंड्र मालवान्।
अंग-बंग कलिंगाख्य पंचालमगधाभिधान्॥
विदर्भ भद्र, शाख्य दर्शणोंदीन बहुन्जिनः।
विहार महाभूत्या सन्मार्गदेशिनोद्यतः॥
—सकलकीर्ति, पार्श्वनाथचरित्र २३, १८, १९, १५।७६-८५

६७. (अ) समवाओ ८।८; ९।४; १६।४; २३।३-४; २४।१; ३०।६; ३८।१; ७०।२; ९५।३; १०४।४

(ब) कल्पसूत्र, १४९-१५६

(स) आवश्यकनिर्युक्ति २२१,२२२, २५०, २५६, २९०, ३२५, ३८१.

(द) तिलोयपण्णत्ती ४।५४८, ५७६, ६६६

६८. चउपन्नमहापुरिसचरियं ५३ पृ० २४५-२६९

६९. तिलोयपण्णत्ति चउत्थोमहाधियारो

७०. (अ) देखें पार्श्वाभ्युदय जिनसेन

(ब) उत्तरपुराण (गुणभद्र) पर्व ७३

७१. नासाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तर्कवादे न च तत्त्ववादे ।
न पक्षसेवाश्रयेन मुक्ति, कषाय मुक्ति किल मुक्तिरेव ।।

७२. इसिभासियाइं (ऋषिभाषित)—अध्ययन ३१

७३. उत्तराध्ययन, अध्याय २३

७४. अहं पि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि, भासामि, पण्णवेमि, परूवेमि—भगवती २।५।११०

७५. राजप्रश्नीय सूत्र १६७-१९०

७६. (अ) सूत्रकृतांग २।७।८१

(ब) उत्तराध्ययन, अध्ययन २३ ।

(स) आवश्यकनिर्युक्ति १२४१-१२४३

७७. इसिभासियाइं, अध्ययन ३१

७८. वही

७९. वही

८०. सूत्रकृतांग २।७।७१-८१

८१. भगवती ९।३२।३७९

८२. इसिभासियाइं, अध्ययन ३१

८३. भगवती १०।९।७६

८४. भगवती २।५।११०

८५. देखें—उत्तराध्ययन २३।३५-७१

८६. वही

८७. उत्तराध्ययन २३।१३, देखें—इसी गाथा की शान्त्याचार्य की टीका

८८. निग्गन्था एक साटका मज्झिमनिकाय महासिंहनादसुत्त १।१।२

८९. सव्वे वि एमइसेण निग्गया जिणवरा—समवायांग प्रकीर्णक समवाय २२६।१

९१. जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिते पायचउत्थेहिं तस्स णं णो ए वं भवति—चउत्थं वत्थं जाइस्सामि ।

अह पुण एवं जाणेज्जा उवातिक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवण्णे अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेत्ता अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले, अदुवा एगसाडे,

अदुवा अचेले। लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णगते भवति। जहेतं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा. सव्वतो सव्वताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया।
—आचारांग १।८।४।२१३-१४

९२. (अ) ऋषिभाषित-अध्याय ३१

(ब) चाउज्जामो य जो धम्मो
जो इमो पंचसिक्खिओ। उत्तराध्ययन २३।१२

(स) पंचजमा पठमंतिमजिणाण सेसाण चत्तारि।
—आवश्यकनिर्युक्ति २३६

९३. एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया।
इत्थीवसंगया बाला, जिणसासणपरम्मुहा॥
जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया।
—सूत्रकृतांग १।३।४।९-१०

९४. सूत्रकृतांग १।६।२८

९५. अहावरे छट्ठे भंते ! वए राई भोयणाओ वेरमणं—दशवैकालिक ४।१६

९६. (अ) तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपजित्ता णं विहरइ।—सूत्रकृतांग २।७।८१

(ब) तए णं से कालसवेसियपुत्ते·····सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।—व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र १।९।२३

९७. (अ) पढमंतिमाण दुविगप्पो। सेसाणं सामइओ···।
—आवश्यकनिर्युक्ति २३६;
'पढमंतिमाण दुविगप्पो'त्ति सामायिकच्छेदोपस्थापनाविकल्पः॥—आवश्यकनिर्युक्ति, हरिभद्रीयवृत्तिः २३६

(ब) सामाइयचारित्तं छओवट्ठाणं च परिहार।
तह सुहुमसंपरायं अहखायं पंच चरणाइ ॥
दुण्हं पण इअराणं तिन्नि उ सामाइयसुहुमऽहक्खाया।
—२८२-८३ (अभिधान राजेन्द्र पृ० २२६६

९८. (अ) सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं ॥
जो जाहे आवन्नो, साहू अन्नयरयंमि ठाणंमि।
सो ताहे पडिक्कमई, मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥
बावीसं तित्थयरा, सामाइयसंजमं उवइसंति।
छेओवट्ठावणयं पुण, वयन्ति उसभो य वीरो य ॥
—आवश्यकनिर्युक्ति १२४१-१२४३

(ब) चउठाणठिओ कप्पो, छहिं ठाणेहिँ अट्ठिओ।
एसो धूयरय कप्पो, दसट्ठाणपतिट्ठिओ ॥६३५९॥
चउहिँ ठिता छहिं अठिता, पढमा बितिया ठिता दसविहम्मि।
वहमाणा णिव्विसगा, जेहि वहं ते उ णिव्विट्ठा ॥६३६०॥
सिज्जायरपिंडे या, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य।
कितिकम्मस्स य करणे, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ॥६३६१॥
आचेलक्कुद्देसिय, सपडिक्कमणे य रायपिंडे य।
मासं पज्जोसवणा, छडप्पेतऽणवट्ठिता कप्पा ॥६३६२॥
दसठाणठितो कप्पो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
एसो धुतरत कप्पो, दसठाणपतिट्ठितो होति ॥६३६३॥
आचेलक्कुद्देसिय, सिज्जायर रायपिंड कितिकम्मे।
वत जेट्ठ पडिक्कमणे, मासं-पज्जोसवणकप्पे ॥६३६४॥
दुविहो होति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य।
तित्थगर असंतचेला, संताचेला भवे सेसा ॥६३६५॥
सीसावेढियपुत्तं, णदिउत्तरणम्मि नग्गयं बेंति।
जुण्णेहि णग्गिया मी, तुर सालिय ! देहि मे पोत्तिं ॥६३६६॥
—बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, षष्ठविभाग भाष्यगाथा ६३५९-६३६६
प्रकाशक श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर सन् १९४२

तुलनीय

अच्चेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंड किदियम्मं ।
वद जेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो ॥१८॥
मूलाचार—समयसाराधिकारः १८

(स) जुन्नेहिँ खंडिएहि य, असव्वतणुपाउतेहिं ण य णिच्चं ।
संतेहिँ वि णिग्गंथा, अचेलगा होंति चेलेहिं ॥६३६७॥
एवं दुग्गत-पहिता, अचेलगा होंति ते भवे बुद्धी ।
ते खलु असंततीए, धरेंति ण तु धम्मबुद्धीए ॥६३६८॥
आचेलक्को धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मज्झिमगाण जिणाणं, होति अचेलो सचेलो वा ॥६३६९॥
बृहत्कल्पसूत्र भाष्य—षष्ठ उद्देशः

९९. (अ) तेणं काले णं तेणं समए णं 'पासावच्चिज्जे कालासवेसिय-पुत्ते णामे अणगारे···। —भगवती ११९

(ब) तेणं कालेणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो···।
—भगवती ५।९

(स) महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा
—आचारांग २।१५।१५

१००. एवमेगे उ पासत्था—सूत्रकृतांग १।३।४।९

१०१. वही

१०२. मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवः पाशा इव पाशास्तेषु तिष्ठतीति पाशस्थः । प्रवचनसारोद्धार गाथा १०४, वृत्ति पत्र २५

१०३. (अ) सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः ।
—सूत्रकृतांग, शीलांक टीका १।३।४।९ की टीका

(ब) पार्श्वे—तटे ज्ञानादीनां यस्तिष्ठति स पार्श्वस्थः ।
—प्रवचनसारोद्धार गाथा १०४, वृत्ति पत्र २५ ।

१०४. चरित्रसार

१०५. पन्थानं पश्यन्नपि तत्समीपेऽन्येन कश्चिद् गच्छति, यथासौ मार्गपार्श्वस्थः एवं निरतिचारसंयममार्गं जानन्नपि न तत्र

वर्तते, किंतु संयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनासंयतः, न च निरतिचारसंयमः सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति। शय्याधरपिण्डमभिहितं नित्यं च पिण्डं भुङ्क्ते पूर्वापरकालयोर्दातृसंस्तवं करोति, उत्पादनैषणादोषदुष्टं वा भुङ्क्ते, नित्यमेकस्यां वसतौ वसति, एकस्मिन्नेव संस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति। गृहिणां गृहाभ्यन्तरे निषद्यां करोति, गृहस्थोपकरणैर्व्यहरति दुःप्रतिलेखमप्रतिलेखं वा गृह्णाति, सूचीकर्तरिनखच्छेदसंदंशनपट्टिकाक्षुरकर्णशोधनाजिनग्राही, सीवनप्रक्षालनावधूननरञ्जनादिबहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्श्वस्थः। क्षारचूर्णं सौवीरलवणसर्पिरित्यादिकं अनागाढकारणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थः। रात्रौ यथेष्टं शेते, संस्तरं च यथाकामं बहुतरं करोति। उपकरणबकुशो देहबकुशः—दिवसे वा शेते च यः पार्श्वस्थः। पदप्रक्षालनं म्रक्षणं वा यत्कारणमन्तरेण करोति, यश्च गणोपजीवी तृणपञ्चकसेवापरश्च पार्श्वस्थः। अयमत्र संक्षेपः—अयोग्यं सुखशीलतया यो निषेवते कारणमन्तरेण च सर्वथा पार्श्वस्थः।—भगवती आराधना गाथा १९४४ की टीका।

१०६. पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः।
—तत्वार्थसूत्र ९।४८

१०७. एवमेगे उ पासत्था मिच्छादिट्ठी अणारिया।
अज्झोववण्णा कामेहिं पूयणा इव तरुणए।
—सूत्रकृतांग १।३।४।१३

१०८. तए णं सा काली अज्जा पासत्था पासत्थविहारी, ओसण्णा ओसण्णविहारी, कुसीला कुसीलविहारी, अहाछंदा, अहाछंदविहारी, संसत्ता संसत्तविहारी। —ज्ञाताधर्मकथा २।१।१।३०

१०९. भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था। —आचारांग २।१५।१५

११०. उद्दए पेढालपुत्ते भगवंपासावच्चिज्जे।—सूत्रकृतांग २।१७

१११. पासावच्चिज्जे गंगेए नामं अणगारे।—भगवती ९।३२

११२. पासावच्चिज्जे कालासेवेसियपुत्ते नाम अणगारे।
—भगवती १०।९

११३. पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो—भगवती ५।९

११४. इस प्रसंग में चार पार्श्वापत्य स्थविरों का उल्लेख है—कालियपुत्त, मेहिल, आनन्दरक्षित और काश्यप। —भगवती २।५

११५. भगवती २।५

११६. राजप्रश्नीय

११७. पट्टावली समुच्चय—उपकेशगच्छीय पट्टावली, पृ० १८४

११८. दीघनिकाय–पयासीसुत्त

११९. तत्थ कुमाराए संनिवेसे कूवणओ णाम कुंभकारो, तस्स कुंभारावणे पासावच्चिज्जा मुणिचंदा णाम थेरा बहुसुता बहुपरिवारा, ते तत्थ परिवसंति – आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्ध, पृ० २८५, आवश्यकनिर्युक्ति ४७७.

१२० पच्छा तंबायं णाम गामं एंति, तत्थ णंदिसेणा णाम थेरा बहुस्सुया बहुपरिवारा, ते तत्थ जिणकप्पस्स पडिकम्मं करेंति, पासावच्चिज्जा इमेवि बाहिं पडिमं ठिता, गोसालो अतिगतो··· ते आयरिया तद्दिवसं चउक्के पडिमं ठायंति, पच्छा तहिं आरक्खियपुत्तेणं हिडंतेण चोरोत्ति भल्लएण आहतो, केवलणाणं – आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्ध, पृ० २९१.

१२१. तत्थ य उप्पलो .नाम पच्छाकडो परिव्वाओ पासावच्चिज्जो नेमित्तिओ भोमउप्पातसिमिणं तलिक्ख-अङ्ग-सरलक्खण-वंजण अट्ठंग-महानिमित्त-जाणओ जणस्स सोऊण चिंतेति।

—वही पृ० २७३.

१२२. (अ) आवश्यकचूर्णि, पूर्वार्ध, पृ० २९८

(ब) श्री पार्श्वशिष्या अष्टांगनिमित्त ज्ञान पण्डिताः गोशालस्य मिलितः षडमी प्रोज्जितव्रताः नाम्ना शोणः कालिन्दोऽन्यः कर्णिकारोऽपुरः पुनः अच्छिद्रोऽथाग्निवेशामोऽथार्जुनः पञ्चमोत्तरः। तेऽप्यारव्युरष्टांग महानिमित्तं तस्य सौहृदात्। —त्रिषष्टि १०।४।१३४-३६

१२३. भगवई १५।७७

१२४. भगवई १५।१०१

१२५. तत्थ य सोमाजयंतीओ उप्पलस्स भगिणीओ पासावच्चिज्जाओ दो परिव्वाइयातो ण तरंति पव्वज्जं काऊण ताहे परिव्वाइयत्तं करेति।

—आवश्यकचूर्णि पूर्वार्ध पृ० २८६

१२६. तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे गंगेए नामं अणगारे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी।—भगवई ९।३२

१२७. वही ९।३२।१३४

१२८. पट्टावली समुच्चय उपकेशगच्छ पट्टावली पृ० १७७-१९४, श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, (गुजरात)

१२९. थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पति दंडए वा, भंडए वा, **छत्तए** वा, मत्तए वा, लट्ठियं वा, भिसिं वा, चेले वा, चेलचिलिमिलिं वा, **चम्मं** वा, **चम्मकोसं** वा, चम्मपलिच्छएणं।

—व्यवहारसूत्र ८।५

130. On this assumption we can account for the division of the Church in Śvetambaras and Digambaras...There was apparently no sudden rupture but an original diversity ripened into division and in the end brought about the great schism.

—The Sacred Books of the East, Vol. XLV p. XXII

१३१. देखें—(अ) भगवानबुद्ध, जीवन और दर्शन—धर्मानन्द कौसम्बी, लोकभारती प्रकाशन १९८२ पृ० ७२

(ब) मज्झिमनिकाय महासीहनाद सुत्त

१३२. पाइथागोरस की संस्था (Society) मुख्य रूप से किसी दर्शन-विशेष की पीठ (School) नहीं थी। वास्तव में वह एक

प्रकार का नैतिक धर्म और धार्मिक संघ (order) था। उनमें दो सिद्धान्त प्रमुख थे। पहला आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त और दूसरा भवचक्र अथवा कर्मवाद का सिद्धांत। आत्मा की अमरता में पाइथेगोरस का अटूट विश्वास था। प्राक्तन कर्मों से यह जीवन बना है और इस जीवन में कर्म भविष्य के जीवन का निर्माण करेंगे। संसार जन्म-मरण का चक्र है और मानव जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह अपने कर्तव्यों द्वारा इस भव-चक्र से मुक्ति प्राप्त करें।

पाइथेगोरस के नैतिक विचार पर्याप्त कठोर हैं। उसने अपने संघ के सदस्यों के जीवन में त्याग, तपस्या और संयम पर विशेष ध्यान दिया। मांस खाना बिलकुल ही वर्जित था। यहाँ तक कि मटर, सेम और लोबिया की फलियों के खाने की भी मनाही थी। विरति, संयम, इन्द्रिय-निग्रह और मिताचार उनके जीवन के मुख्य अंग थे। वे एक विशिष्ट प्रकार का वस्त्र पहनते थे। उन्होंने बताया कि शरीर आत्मा के लिए एक बन्दी गृह है और हमें उससे मुक्ति का उपाय ढूँढ़ना चाहिए।—ग्रीक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास (प्रो० जगदीश सहाय) पृ० ५८-५० प्रकाशक किताब मण्डल १९६०

१३३. देखें—पट्टावलीसमुच्चय (दर्शनविजय), उपकेशगच्छ पट्टावली पृ० १७७-१९४.

Library IIAS, Shimla
H 294.872 J 199 A
00094575